



# MISSION MEDITATION

*Established by :*

Enlightened Mystic Gurumaiya Dr. Hareshwarideviji

## MAUN MANDIR

*(A place for silence)*

at. & po. Chapad, dist. Vadodara, Gujarat, INDIA

Ph. +91 9913153609, 7285085733



## प्रेम ध्यान

प्रिय साधको!

जब आप कहीं भी समर्पित हो जाते हो तब आपका अहंकार पूर्ण रूप से विसर्जित हो जाता है। आपका समर्पण घोषणा करता है कि आपका अहंकार विसर्जित हो गया है। मन के पार चले जाने के सिवाय अथवा मन की मृत्यु के सिवाय समर्पण संभव नहीं है।

आपको प्रश्न उठ सकता है कि समर्पित हो जाने से मन कैसे मरेगा? यह बात ध्यान से समझने जैसी है। आपका किसी को समर्पित हो जाने का अर्थ है – अब आपके ऊपर आपका कोई अधिकार नहीं रहा। आपका जो कुछ भी है वह आपने किसी के नाम पर कर दिया। स्वयं को स्वेच्छा से किसीके हवाले कर दिया। कोई स्वयं को किसीके हवाले कब कर देता है – जब वह किसी के गहन प्रेम में हो। गहन प्रेम के बिना आत्मसमर्पण संभव नहीं हो सकता। यहाँ मैं कानून की बात नहीं कर रही हूँ।

मैं जो बात कर रही हूँ वह एक अनलिखित प्रेम का कानून है। कानून के हिसाब से कभी कभी खूंखार गुनेहगार कानून की शरण में आते हैं। तब कानून ऐसे लोगों के लिए शब्द प्रयोग करता है कि अपराधियों ने आत्मसमर्पण किया। परंतु वह तो भय से, धन से अथवा राजनैतिक रूप से किया हुआ आत्मसमर्पण होता है। ऐसा आत्मसमर्पण कोई सच्चा समर्पण नहीं होता।

मजबूरन या हिसाब किताब से जो समर्पण होता है वह तो एक भ्रष्ट समर्पण है, विशुद्ध नहीं। परिशुद्ध समर्पण तो परिशुद्ध प्रेम की नींव पर ही घटित होता है। प्रेम के कई स्वरूप हैं। जीवन में प्रेम विभिन्न भूमिकाओं में से गुजरता रहता है। परंतु गहन प्रेम विभिन्न पाँच अवस्थाओं में से गुजरकर परिशुद्ध हो जाता है। जिन्हें मेरे शब्दों में कहूँ तो आकर्षण, मिलन, प्राप्ति, विरति और उन्नति है। आकर्षण और मुलाकात तक की भूमिका प्रेम की लौकिक अथवा प्राथमिक भूमिका है। वह बिलकुल प्रारंभिक अवस्था है। प्राप्ति मध्यम भूमिका है। विलीनता एक दिव्य और उच्च भूमिका है। विलीनता प्राप्ति को सार्थकता प्रदान करती है। विलीनता की अवस्था के बिना प्राप्ति अवस्था अधूरी है। पूर्ण प्राप्ति का अर्थ ही वही है कि फिर उसे कोई आपसे छीन न सके। वह एक ऐसा खजाना है जो कभी खो न जाए। सामान्य रूप से जो मिलता है वह कभी खोता भी है। जो बिछड़ जाता है उससे फिर से मिलने की संभावना भी है। परंतु जो प्राप्त हो गया वह फिर कभी अप्राप्य नहीं हो सकता।

प्यारे साधको!

मिलना लौकिक स्तर पर होता है। प्राप्ति अस्तित्वगत रूप से होती है। प्राप्ति एक आंतरिक घटना है। पा लेना यह एक बाहरी अनुभव है। मिलना अकस्मात हो सकता है। प्राप्ति समग्रता का परिणाम है। प्राप्ति तपश्चर्या का फल है। पाना स्थूल होता है परंतु प्राप्ति एक गहन अनुभव है। पाना और खोना दोनों दुनियावी हैं परंतु प्राप्ति आत्मचेतना के साथ जुड़ी हुई एक अद्भुत और दिव्य घटना है।

आपके पास से जो छिन जाए वह सच्ची प्राप्ति नहीं है। प्राप्ति तो एक प्रकार की सिद्धि है। एक बार जो चीज़ सिद्ध हो जाती है तब उसे संभालने की कोई चिंता नहीं करनी पड़ती, वह तो सध गया। अब उसे आपसे दूर करने का कोई उपाय नहीं है। जो सिद्ध हो गया उसे अ-सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं है।

प्राप्ति का एक अर्थ है उदय। प्रेम में प्राप्ति सध जाने से साधक का भीतरी उदय होता है। परंतु याद रहे वह अंतिम सिद्धि नहीं है। ज्यादातर चिंतक प्रेम की तीन अवस्था ही बताते हैं – काम, प्रेम और परम प्रेम। वे लोग परम प्रेम को भक्ति कहते हैं। दो दिलों के बीच में धबकते हुए प्रेम को प्रेम कहते हैं। और मन की वासनापूर्ण अवस्था को काम कहते हैं। परंतु मुझे यहाँ कुछ शारीरिक कुछ मनोवैज्ञानिक और कुछ आध्यात्मिक तथ्यों को विशेष रूप से स्पष्ट करना अनिवार्य लग रहा है। आचार्य रजनीश ने कहा है कि काम प्रेम का कच्चा माल है। परंतु मैं इस बात से असहमत हूँ।

काम ऊर्जा जैविक ऊर्जा का परिणाम है। कामेच्छा शारीरिक स्तर पर घट रही रासायनिक प्रक्रिया का कारण है जो मनुष्य को रक्त में प्राप्त हुई है। उस रासायनिक प्रक्रिया के कारण शरीर कुछ खास प्रकार की जरूरतें और भूख महसूस करता है। वह आवश्यकताएं मांग पैदा करती हैं। उस माँग को पूरी करने के लिए दूसरे का सहारा ढूँढना यह तो अपने को ही प्रेम करना है। और केवल शरीर को प्रेम करने को ही, केवल शरीर को तृप्त करने को, उसको सुख देने को और मन को मज़ा देने को ही आप प्रेम कहते हो तो ये आपकी व्याख्या है, प्रेम के नाम पर होती क्रियाएं भी कुदरती हैं, सहज हैं, स्वाभाविक हैं परंतु आप प्रेमी नहीं हैं।

ऐसे प्रेम में आप केवल स्व केन्द्री हैं अथवा स्वार्थी हैं। आपको प्रेमी का बिरुद नहीं मिल सकता। क्योंकि आप जिसे प्रेम कहते हैं वह

तो पशु पक्षी भी कर लेते हैं। पशु पक्षी में कोई विशेष समाज व्यवस्था, नीतियाँ, सभ्यता और संस्कार के बंधन न होने से वे आदमी से ज्यादा स्वतंत्र हैं। और इस स्वतंत्रता के कारण उन्हें अपनी काम वासना की तृप्ति के लिए कोई खास चालाकियाँ नहीं करनी पड़ती, कुछ छिपाना नहीं पड़ता, किसीको प्रेम जाल में फँसाना नहीं पड़ता, न कोई प्रेम का नाटक रचना पड़ता है। पशुओं में कोई विशेष सौन्दर्य बोध नहीं होने से वहाँ झगड़े भी कम होते हैं। परंतु मनुष्य, सभ्यता, नीति-व्यवस्था, समाज व्यवस्था और संस्कारों के बंधन से घिरा हुआ है। इसलिए उसे अपनी शारीरिक इच्छाओं को पूरी करने के लिए ज्यादा से ज्यादा मन का इस्तेमाल करना पड़ता है, बुद्धि को काम में लगाना पड़ता है, अपने शरीर सुख के लिए मनुष्य चालाकियाँ भी करता है, किसीको ठग भी लेता है।

हालांकि ऐसा करना जरूरी नहीं है। परंतु आज का मनुष्य ज्यादा से ज्यादा पा लेना चाहता है। उनके आकर्षण के केन्द्र बदलते रहते हैं और माहौल की वजह से आकर्षण बढ़ता जा रहा है तथा नए नए रूप में सुख को पाने के लिए और ज्यादा से ज्यादा सुखों को भुगतने के लिए वह दूसरे का इस्तेमाल कर लेना चाहता है। सुखी होना अथवा सुखी होने की धारणा करना यह बिल्कुल गलत नहीं है। वेद और उपनिषद् के कई मंत्र मनुष्यता के सुख-वैभव के पक्ष में हैं। लंबे जीवन के पक्ष में हैं। परंतु सुखी होने के लिए सम्यक जीवनशैली और पुरुषार्थ के स्थान पर केवल लोभ और लालच बढ़ते जाएं तो वह खतरनाक है।

कभी कभी लगता है कि कुदरत ने मनुष्य को बनाने के पहले यह सब जान लिया था, इसलिए मनुष्य शारीरिक स्तर पर भी ज्यादा आनंदित सुखी और संतुष्ट हो पाए इसलिए उसने ब्रह्मांड द्वंद्व पैदा कर दिया। नर-नारी बना दिए। परंतु मानव मन ने साबित कर दिया कि जरूरत सीमित होती है परंतु इच्छा एक अंतहीन प्रक्रिया है। हर जन्म में शरीर नया है, मन पुराना। पुराना मन नई नई इच्छाएं पैदा करता रहता है और ऐसे ही जीवन समाप्त हो जाता है। अजाग्रत मन ने पैदा की हुई वासना मनुष्य को फिर से पैदा होने के लिए मजबूर कर देता है।

मानवमन में उभरती हुई नई नई वासनाओं को तृप्त करने के लिए विज्ञान और तकनीकी उपकरण इतने विकसित हो गये हैं कि आज का आदमी भोगों को भुगतने के लिए छोटा पड़ रहा है और वासनाएं बड़ी हो गई हैं। उस हद तक उपकरणों की खोज की गई कि कामतृप्ति के लिए आदमी उपकरण का इस्तेमाल कर लेता है। विश्व के हजारों लोग आज ऐसे उपकरणों के उपयोग की आदत हो गई है। वहाँ एक खतरा भी बढ़ गया और वह खतरा यह है कि आदमी को दूसरे की जरूरत न रही। विज्ञान ने मनुष्य को काफी हद तक स्वार्थी बना दिया। इसीलिए तो पश्चिम में भोग विलास ज्यादा है और प्रेम कम। चालाक आदमी प्रेम नहीं चाहता, वह सुख और सलामती चाहता है।

मैं यह स्पष्ट करना चाहती हूँ कि प्रेम के बिना भी कामतृप्ति हो रही है अथवा प्रेम के अभाव में भी मनुष्य मनुष्य का उपयोग करके काम को संतुष्ट कर लेता है। तो काम को प्रेम का कच्चा स्वरूप भी कैसे कह सकते हैं ?

मैं कहूँगी कि काम एक वृत्ति है और प्रेम एक भाव है। काम जरूरत है, प्रेम आशीर्वाद है। काम का संबंध मनुष्य के जननांग, उससे संलग्न रसायण और मन की वासनाओं के साथ है परंतु प्रेम का संबंध सीधा भावजगत से है। जरूरी नहीं कि प्रेम काम के द्वारा ही परिपूर्ण हो और यह भी बिल्कुल जरूरी नहीं कि काम में प्रेम की मौजूदगी हो।

हाँ, इतना जरूर है कि अगर प्रेम की भूमिका पर काम के पुष्प खिलें तो वे ज्यादा सुंदर और सुवासित होते हैं। कामी जब प्रेमपूर्ण हो जाता है तब उसका काम पूर्णकाम बन जाता है। काम के लिए काम एक शारीरिक जरूरत है। वहाँ फिर पशु और मनुष्य में कोई विशेष फर्क नहीं रहता। परंतु प्रेम के पीछे आया हुआ काम प्रेमरूप बन जाता है। क्योंकि प्रेम के द्वारा आए हुए काम में नर-नारी दोनों की सहमति होती है, वह काम स्वीकार्य है। ऐसी प्रसन्न मनोदशा में काम प्रेम को प्राप्त करके उन्नत होता है। ऐसा काम पाश्वी नहीं परंतु मानवीय है।

काम में सिर्फ मांग और इच्छा पूरी करने का स्वार्थ होता है। जबकि प्रेम में मिलन सार्थक होता है। जरूरी नहीं है कि वह मिलन काम के स्तर का हो या काम के स्तर तक पहुंचे। प्रेम में दो प्रेमी के बीच में आंतरिक रूप से एकता स्थापित हो जाती है। एक गहन तल पर अद्वैत के बीज उत्पन्न होते हैं। और तब ऐसा प्रेम प्राप्ति की क्षण बन जाता है। जिसे मैं प्रेमियों ने पाई हुई सहज सिद्धी कहती हूँ।

मैं कहूँगी कि ऐसा मिलन ही सही मिलन है कि जहाँ बिछड़ने का कोई डर ना हो। डर हमेशा मनुष्य के मन में पड़ा होता है। कामपूर्ति की इच्छा और छोटे छोटे स्वार्थों की वजह से व्यक्ति व्यक्ति को पकड़े रखता है। मेरी ऑफिस में बरसों पहले एक मेनेजर नौकरी करता था। वह कई बार कहता था कि मुझे घर का झाड़ू-पोंछा करना अच्छा नहीं लगता है। वैसे तो मैं शादी करना नहीं चाहता हूँ परंतु घर के झाड़ू-पोंछे के लिए शादी करनी है। भारत की हजारों शादियाँ रोटी पकाने और झाड़ू-पोंछे के इरादे से हो रही हैं। ये स्वार्थ पर खड़ी हुई शादियाँ हैं। ऐसी शादियाँ समाज व्यवस्था के लिए खतरनाक हैं। ऐसे शादी विवाह में आगे पीछे कहीं भी प्रेम तो है ही नहीं, सिर्फ जरूरत का गणित है। और गणित की वजह से स्त्री-पुरुष एक दूसरे को पकड़े रखते हैं। पकड़ना यह मन का स्वभाव है। दुनियाँ के ज्यादातर खेल मन के द्वारा ही चलते रहते हैं। मन योजनाएँ बनाता है, मन चालाकियाँ करता है, मन बहाने बनाता है कुछ भी पकड़ने और छोड़ने के लिए। मन न कभी तृप्त होता है



न कभी ऊबता है, उसका ऊबना उसकी अतृप्ति प्रगट करता है। उसके ऊबने का अर्थ है कि वह कुछ नया चाहता है। उसका स्वभाव नहीं बदलता उसके विषय बदलते रहते हैं, वृत्तियाँ बदलती रहती हैं। आपका मन ज्यादा से ज्यादा सुख पा लेने की इच्छा के कारण नई नई राजनीति खेलता रहता है। इससे वास्तविक जीवन में अराजगता बढ़ती जाती है। परंतु अजाग्रत मनुष्य को उस अराजकता की आदत पड़ जाती है। वह खुद मन की नई नई चाल का शिकार बनता रहता है।

शारीरिक स्तर पर शाश्वत मिलन कभी भी संभव नहीं है। और स्थूल मिलन सच्चा मिलन नहीं है। क्योंकि शारीरिक मिलन अथवा सामाजिक मुलाकात क्षणिक होते हैं। प्रेम में एक वास्तविक मिलन घटता है और वही सच्चा मिलन है। वास्तविक मिलन है दो दिलों का मिलना। वहाँ दो शरीर में एक प्राण चल रहे हों ऐसी अनुभूति होती है। वहाँ शरीर दो होते हैं परंतु विचार एक से होते हैं। वहाँ शरीर दो होते हैं परंतु भावनाएँ समान होती हैं। ऐसे मिलन को मैं एक मुक्त मिलन कहूँगी। ऐसा मिलन कोई बंधन खड़ा नहीं करता। कोई अराजकता पैदा नहीं करता। वहाँ किसी भी प्रकार के आग्रह और क्लेश नहीं होते। वहाँ भीख मांगने और देने की स्थिति नहीं होती। वहाँ सिर्फ दो हृदय प्रेम के सूत्र में ऐसे बंधे हुए होते हैं कि जहाँ बंधन किसी भी प्रकार की पीड़ा नहीं देता।

ऐसे मिलन में मन की चालाकियाँ धुल जाती हैं। और निर्मलता के प्रवाह में मति का कूड़ा कर्कट बह जाता है। द्वैत में भी अद्वैत झलक उठता है। ऐसी अवस्था को मैं प्राप्ति कहती हूँ। जिसे आप उदय की अवस्था भी कह सकते हैं। क्या होता है उदय में? उदय में प्रकाश विकसित होता है। अंधेरा खो जाता है। सबकुछ साफ साफ नजर आता है। पुष्प खिल उठते हैं। पंछी चहचहाते हैं, पूरी सृष्टि जागती है और फिर से धबकने लगती है। उदय काल में लगता है कि सोई हुई जिंदगी फिर से जाग उठी।

मिलन और प्राप्ति की क्षणों में जागना बड़ा प्यारा होता है। उन क्षणों में विषय वासना हावी नहीं रहती परंतु वह प्रेम की चाकर बनकर रहती है। ऐसी प्राप्ति एक दिव्य प्राप्ति है। वह कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं है कि जिसका प्रदर्शन हो सके। उसका तो केवल अंतरदर्शन होता है और प्रेम की इस अवस्था का विकसित होते होते प्रेमी विरति को प्राप्त कर लेता है।

प्यारे साधको!

क्या होता है विरति में? विरति का अर्थ क्या है? विरति का अर्थ है ठहरना। ठहरना तभी संभव है जब मन अदृश्य हो जाए, मन का अवसान हो जाए। मन के अवसान के बिना मनुष्य विश्राम को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। मैं कहती हूँ कि मन की वजह से मनुष्य की मृत्यु हो जाए इससे अच्छा है कि ज्ञान के कारण मन की मृत्यु हो जाए। मन मनुष्य को कभी विश्राम करने ही नहीं देता। परंतु प्रेम में जो प्राप्ति तक पहुंच गया उसका विश्राम में प्रवेश होना सरल हो जाता है। क्योंकि जो पाना था वह पा लिया। वह कहीं बाहर से नहीं पाया। जो कुछ भी पाया है वह अपने भीतर से ही पा लिया; अब परम तुष्टी, परम तृप्ति, परम संतोष।

एक बात हमेशा याद रखना, संतोष के बिना मनुष्य कभी रुकता नहीं है। वह संतोष कभी चीजों से या व्यक्तियों से नहीं प्राप्त होता। वह संतोष एक समझ से पैदा होता है। आपको जब विश्राम का अनुभव होने लगे तो समझ लेना कि भीतर संतोष पनप रहा है। अब सारी दौड़ खत्म हो गई, मन मर गया। अब सबकुछ ठहर गया।

एक बार महावीर को किसीने पूछा कि आप कौन हैं? महावीर ने जवाब दिया – कि मैं परम विश्राम हूँ – यह प्राप्ति का परिणाम है। प्रेम जब प्राप्ति तक पहुंच जाता है तब अद्वैत घटित होता है।

मानस में एक प्रसंग आता है। अशोकवन में जब हनुमान सीता से मिलते हैं तब सीताजी पूछती हैं कि प्रभु श्री राम मुझे भूल तो नहीं गए हैं। तब श्रीराम का संदेशा देते हुए हनुमान कहते हैं कि

तत्त्वप्रेम सिय मम अरु तोरा –

हे सीता! मेरा और तेरा तत्त्वप्रेम है। यहाँ तत्त्वप्रेम शब्द में राम का प्रेम प्रेम की बुलंदियों को छू रहा है।

सो मन सदा रहत तोहि पाहीं,

जानु प्रीतिरस एतनेही माहीं।

–मेरा मन तो सदा तेरे पास ही रहता है। इतने में ही मेरे प्रेम रस को समझ लेना। ऐसे शब्द एक उच्च कक्षा के प्रेमी बोल सकते हैं और समझ सकते हैं।

ज्ञानी और प्रेमी में कोई खास फर्क नहीं रहता। ज्ञानी ज्ञान से मन को समाप्त कर देता है और प्रेमी अपना मन किसी को सौंप के समाप्त कर देता है। वे अपने हाथ में कुछ रखते ही नहीं हैं। प्रेमी के लिए अपना प्रेमपात्र सर्वस्व होता है, वही उसके लिए भगवान होता है।

किसीके मन का अवसान दो स्थितियों में होता है – एक तो ज्ञान की पराकाष्ठा में, दूसरा प्रेम की पराकाष्ठा में। दोनों में बात तो मन से मुक्त होने की है।

विरति का अर्थ है सांसारिक वासनाओं के प्रति सहज उदासीनता। ज्ञान की उच्चतम अवस्था में भी मन ज्ञानाग्नि में विलीन हो जाता है और सांसारिक वासनाएं उठना समाप्त हो जाती हैं। प्रेम की चरम सीमा में मन प्रिय पात्र को सौंप दिया जाता है अर्थात् मन को प्रेमाग्नि में विलीन कर दिया। मन नहीं रहा तो न बंधन रहा, न मुक्ति की चिंता। जब तक बंधन है तब तक मुक्ति की आकांक्षा रहती है। बंधन पैदा करने वाला है मन। मन सौंप दिया प्रिया पात्र को तो फिर मुक्ति की चिंता भी शांत हो गई। इसलिए भक्ति मार्गीय संत कहते हैं कि भक्त कभी मुक्त होना नहीं चाहते हैं। प्रेमभक्ति की अवस्था उन्नति की अवस्था है। यह एक परम उपलब्धि है।

जरूरी नहीं कि वह प्रेम केवल स्त्री पुरुष के बीच में ही हो। एक हृदय का दूसरे के प्रति समर्पित होना प्रेम है। कभी वह स्पष्ट रूप से परस्पर समर्पण होता है। कभी एक पक्षीय होता है। यह सब भावनाओं पर निर्भर होता है। श्रद्धा के आधार पर घटनाएं घटती हैं। उसमें सांसारिक रिश्ते गौण होते हैं। हृदय के भाव केन्द्र में होते हैं। मानस में भ्रातृप्रेम में आकंठ डूबे हुए भरत एक क्रांतिपूर्ण निवेदन करते हैं –

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहहुं निर्वाण।

जन्म जन्म रति राम पद, यह वरदान न आन।।

प्रेम के अनेक स्वरूप हैं। वह स्वरूप भ्रातृ प्रेम, पितृप्रेम, मातृप्रेम, पत्नीप्रेम, पतिप्रेम, प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम, मित्रप्रेम अथवा गुरु-शिष्य का प्रेम इत्यादि हो सकता है परंतु प्रेम तो प्रेम है। प्रेम जब प्राप्ति की अवस्था में पहुंच जाता है तब विरति सहज घटित होती है, मन परितृप्त होकर अदृश्य हो जाता है। वहाँ मोक्ष फीका पड़ जाता है और प्रेमी पाप-पुण्य के भय से ऊपर उठ जाते हैं। ऐसा प्रेम दुनियाँ के अभिप्रायों से नहीं पलता। वह तो समर्पण के आधार पर पनपता रहता है। पितृप्रेमी परशुराम मन की दखल अंदाजी के बिना पिता की आज्ञा के वश होकर माता की हत्या भी कर देता है। और पिता पुत्रप्रेम के वश होकर रेणुका को फिर से जीवित भी कर देते हैं।

भारत के इतिहास पुराण को पढ़ने वाले को लगेगा कि यह सब क्या खेल चल रहा है? परंतु यह खेल नहीं है, यह तो मन के सारे खेल समाप्त होने के बाद जो समर्पण घटित होता है उसका अद्भुत दृष्टांत है। जिसे पढ़कर आदमी को पता चलता है कि वह प्रेमी है कि नहीं। वह प्रेम का दावा करने के काबिल है कि नहीं। किसीको समर्पित होने की उसमें पात्रता है या नहीं।

मैं कहती हूँ कि समर्पण मुक्ति का अंतिम उपाय है। समर्पित हो जाने के भाव से कर्ताभाव मिट जाता है। फिर तो वह एक साधन मात्र रहता है। असली मालिक तो प्रेमी होता है। अपना प्रेमपात्र जैसे रखे वैसे रहना है, जैसे चाहे वैसा करना है। मीरा कहती है कि

लाला जी मोहे चाकर राखो जी

– और इस समर्पण से ही अद्वैत स्थापित हो जाता है।

मैं तो कहती हूँ कि लोग भले सीताराम या राधेश्याम बोलें परंतु केवल सीता या राधे बोलने से ही बात पूरी हो जाती है। सीता से राम अभिन्न है और राधा से श्याम अभिन्न है। अकेली सीता की कल्पना भी नहीं हो सकती। यह सीता की उपलब्धि है। और राधा बोलते ही श्याम भीतर ही भीतर सहज ध्वनित हो उठता है, यह राधा की उपलब्धि है। इसलिए तो ब्रज में ‘राधे’ ‘राधे’ बोला जाता है। उन्हें कृष्ण बोलने की जरूरत ही नहीं रही। उन लोगों ने सच में अद्वैत को जान लिया है। कृष्ण शब्द को राधा के साथ जोड़कर लोग कृष्ण को राधा से भिन्न कर देते हैं। राम और कृष्ण दोनों सीता और राधा के बिना अधूरे हैं। यह भारतीय नारी की प्रेम की उन्नति की अवस्था है।

राम सीता का संदेश लेकर आने वाले हनुमान से पूछते हैं कि राक्षसों के बीच में सीता अपने प्राणों की रक्षा कैसे करती हैं। तब हनुमानजी कहते हैं –

नाम पाहरू दिवस निशि ध्यान तुम्हार कपाट

लोचन निज पद जंत्रिका प्राण जाय केहि बाट

एक अर्थ में लंका में भी राम ही थे। सीता होते हुए भी वहाँ नहीं थी, वे तो राममय थीं। जो सीता थी ही नहीं तो असुरक्षा की तो बात ही नहीं। ध्यान में व्यक्ति खो जाता है और केवल ध्येय रहता है। रामायण कहती है कि सीता लंका में राम के ध्यान में मग्न रहती थी। वह सीता का प्रेमध्यान था।

राम का ध्यान बन्द द्वार थे। जिस ध्यान खंड में सीता सुरक्षित थी। यह एक परम प्रेमिका का ध्यान था। कोई साधारण ध्यानी का नहीं। वह एक सच्ची आराधिका का ध्यान था। अशोकवन में सीता राम के ध्यान में विलीन हो गई थी। दुनियाँ को वहाँ सीता भले दिखती हो परंतु वहाँ सीता के रूप में राम ही जी रहे थे। राम स्मरण करते करते सीता राम रूप बन गई थी।

बचपन में एक राम लीला में देखा था कि सीता को भयभीत करके अपने वश में करने के लिए रावण माया से राम का कटा हुआ बनावटी सर थाल में लेकर अशोक वन में सीता के पास आता है। सीता रावण के सामने आँख उठाकर देखने के लिए भी तैयार नहीं है। चारों नीतियों का प्रयोग करने के बावजूद भी जब रावण सफल नहीं जाता है तब रावण को हुआ कि मैं माया करके सीता को फंसाऊँ और वह सीता को कहता है कि इस थाल में क्या है यह तो देख ? अब तेरा राम जीवित नहीं रहा, मैं उसका सर लेकर आया हूँ तेरे पास। शब्द सुनते ही सीता थोड़ा मुड़कर थाल की ओर देखती है तो तब रावण चौंक जाता है और थाल उसके हाथ में से गिर जाता है क्योंकि रावण को घुंघट के पीछे सीता नहीं स्वयं राम दिखाई दिए। और वहाँ रावण की माया टूट जाती है।

यह घटना क्या कहती है हमें ? यह कोई काल्पनिक बात नहीं है। यह प्रेम की एक वास्तविकता है। यह घटना एक साथ दो बात घोषित करती है। सीता में रावण को राम का दर्शन होने का अर्थ यह है कि राम कभी मर नहीं सकता। उसे मारने का कोई उपाय नहीं है। और दूसरी बात कि अगर राम मर गए तो सीता का जीना संभव नहीं है। राम नहीं हैं तो सीता भी नहीं है। एक अर्थ में केवल राम ही है, सीता तो राम के प्रेम में कबकी विलीन हो चुकी।

सच्चा ध्यानी इन्द्रियातीत जगत में पहुँच जाता है। और जो इन्द्रियातीत जगत में पहुँच गया उसको किसी भी प्रकार के इन्द्रजाल मोहित नहीं कर सकते।

सीता के नेत्र के उनके चरणों में ताले लगे हैं। इस उपमा का अर्थ ज़रा समझने जैसा है। नेत्रों का अपने चरण में ताले लग जाने का अर्थ है कि अब इन्द्रियजगत रुक गया। ध्यानी इन्द्रियातीत अवस्था में चला गया। ऐसी अवस्था कब आती है ? मन के अदृश्य हो जाने पर ही साधक ऐसी अवस्था को प्राप्त करता है। इन्द्रियों की दौड़, मन की दौड़, बुद्धि की दौड़ जब रुक जाती है तब विरति की अवस्था प्राप्त होती है। ऐसी अवस्था में प्रेम विरति बन जाता है। और विरति से परम उन्नति की अवस्था प्राप्त होती है। जिसे ज्ञानी जन मुक्ति कहते हैं। परंतु भक्त के लिए मुक्ति कोई बड़ी सिद्धि नहीं है। वह तो प्रेम के कारण सहज ही घटित हो जाती है।

हनुमान राम से कहते हैं कि हे प्रभु! आपका नाम सीता का रक्षक बन गया है। अर्थात् सीता के लिए 'मैं' मिट गया है सिर्फ 'तू ही तू' बचा है। ध्यान के कवच से सीता सुरक्षित है। अर्थात् मन राम को समर्पित कर दिया है। और नेत्र अपने चरणों में स्थिर हैं। इसका अर्थ हुआ कि इन्द्रियाँ भी शांत हैं।

प्यारे साधको!

साधारण मनुष्य ज्यादा से ज्यादा ऊर्जा अपने नेत्र और वाणी से गंवाता है। परंतु ध्यानी के लिए ऊर्जा व्यय के ये दोनों द्वार सहज ही बंद हो जाते हैं। जिससे उसकी काफी ऊर्जा बचती है। और वह अद्भुत शक्तिमान होने का अनुभव करता है।

एक कवि अथवा साधारण कथाकार मानस के सीता कथित दोहे को केवल अलंकार से सजाई हुई पंक्तियाँ मानकर तुलसी को बखान देंगे। परंतु एक आध्यात्मिक चित्त, एक ध्यानी, और एक प्रेमी हृदय इस दोहे को यथार्थ रूप से समझ पाएंगे।

राम नाम पहरा दे रहा है। ध्यान की किवाड़ से द्वार बंद है और चरणों में नेत्र के ताले लगे हैं, तो प्राण कौन से मार्ग से जाएगा ? – इसका अर्थ है कि सीता के लिए मृत्यु बेचारी बन गई। मृत्यु उसे मार नहीं सकती। क्योंकि वहाँ सीता के रूप में सिर्फ प्रेम ही बचा है। यहाँ प्रेम ध्यान बन गया है और प्रेम कभी मर नहीं सकता।

मैं कई बार कहती हूँ कि ध्यान एक महामृत्यु है। ध्यान से जो मृत्यु घटती है ऐसी मृत्यु और किसी भी प्रकार से नहीं घट सकती। ध्यान की क्षण महामृत्यु की क्षण है। जो आपको पुनर्जन्म की पीड़ा से बाधित नहीं करता। प्रेम भी मृत्यु है। प्रेम के क्षण में आपके पास जो कुछ भी है वह सबकुछ थोड़ी देर के लिए विसर्जित हो जाता है। आप सारे भेदभाव और अहंकार को थोड़ी देर के लिए भूल जाते हो। प्रेम में गरीब तवंगर, सुंदर असुंदर, ज्ञानी-मूढ़, जोगी-भोगी ये सब भेद विसर्जित हो जाते हैं। भारत के पास ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जैसे कि कृष्ण-सुदामा, राम और हनुमान, सलीम और अनारकली, शिव और पार्वती।

मेरी बात समझने की कोशिश करना। आदमी की एक सबसे बड़ी कमजोरी है कि जहाँ प्रेम की बात आती है वहाँ बात को समझने के पहले वह सीधा यौन को जोड़ देता है। नर नारी के शरीर को जोड़ देता है। सेक्स को प्रेम समझ लेता है।

मैं कहती हूँ कि अगर उसी स्तर पर आप प्रेम को समझने की कोशिश करेंगे तो आपकी समझ और तलाश दोनों अधूरे रह जाएंगे। ऐसी कोशिश आपका बचपना होगा। अथवा सुनी हुई बातों का असर होगा, या प्रेम के ऊपर आपकी नासमझी को थोपने का प्रयास होगा अथवा आपका मन विकृत होगा। झुंग और झीमर लौरेस जैसे भी भारत को समझने में गलतफहमी में रह गए हैं।

मैं फिर से एक बार कहती हूँ कि काम ऊर्जा शारीरिक रसायनों का परिणाम है। जातिय इच्छा मनुष्य और पशु में स्वाभाविक है। क्योंकि उनका जन्म ही उस ऊर्जा से हुआ है। काम इच्छा उसे जीन्स में मिली है। इस इच्छा से जन्मजात निवृत्त मनुष्य या तो गर्भावक्रांति युक्त जीवन पाया हुआ अथवा असहज हो सकता है। सृष्टि कार्य को आगे बढ़ाने के लिए काम इच्छा सहयोग भी करती है और अनिवार्य भी है।

वह एक ऐसी करामात है कि जो शरीर और मन को सुख भी देती है और संतति भी। काम इच्छा बिल्कुल निंदनीय नहीं है। काम ऊर्जा की निंदा ये पूरी मनुष्यता की निंदा है। अवतारों की निंदा है, तीर्थकरों और पयगंबरों की निंदा है, स्वयं की निंदा है। क्योंकि सबके जन्म में कामऊर्जा कहीं न कहीं निमित्त है। पूरा विश्व काम ऊर्जा से निर्मित है। परंतु हर बार प्रेम के साथ उसे ठोक पीट कर बिठा देना यह उचित नहीं है।

काम शरीर की धरती पर उगता है, प्रेम हृदय की भूमिका पर। दोनों का उद्गम स्थान ही अलग है। प्रेम के अनेक अनेक रूप हैं, किसी को भी प्रेम करने के लिए काम की भूमि अनिवार्य नहीं है। वहाँ लिंग भेद भी अनिवार्य नहीं है। हाँ, ज्यादातर प्रेम के किस्से स्त्री पुरुष के बीच में घटित होते हैं। इसलिए लोगों ने कामऊर्जा और प्रेमऊर्जा को जोड़ दिया।

विपरीत का आकर्षण होना स्वाभाविक है परंतु हर स्त्री पुरुष के प्रेम किस्से में प्रेम हो ही ऐसा जरूरी नहीं है। संभव है कि वह केवल विजातीय आकर्षण हो। जिसको मनुष्य प्रेम का नाम देता है।

अगर मैं प्रश्न करूँ कि कृष्ण और सुदामा के प्रेम के बारे में तो क्या वह कोई निम्न कोटि का प्रेम है? कृष्ण और अर्जुन का प्रेम कोई साधारण प्रेम है? विश्व की प्रत्येक मैत्री प्रेम की भूमिका पर विकसित होती है।

हाँ, दो विपरीत बिन्दु मिलकर प्रेम के सौन्दर्य को बढ़ा देते हैं यह बात अलग है। परंतु प्रेम के लिए काम अनिवार्य नहीं है। प्रेम की धरा पर काम संभव है परंतु केवल काम की धरा पर प्रेम संभव नहीं बनता।

काम हमेशा कुछ न कुछ मांगता है और प्रेम हमेशा देता है। प्रेम स्वतंत्र खड़ा रह सकता है। काम पराधीन हो जाता है। प्रेम में प्रतीक्षा में भी पूर्णता है। परंतु काम सबकुछ शीघ्र ही पा लेना चाहता है। प्रेम समर्पित होने पर भी पराधीन नहीं होता इसलिए शाश्वत है, काम क्षणिक होता है।

मीरा और कृष्ण के बीच में पांच हजार वर्ष का अंतर था। मीरा के समय पर कृष्ण तो कबकी धरती छोड़ चुके थे परंतु मीरा का प्रेम कृष्ण को फिर से जीवंत कर दिया। विरह से भी प्रेम शाश्वत बन गया।

जो मज़ा इंतज़ारी में देखा,  
न वह मज़ा वस्ले यारी में देखा।

प्रेम की क्षमता अद्भुत है। राम और शबरी, राम और अहल्या, कृष्ण और कुंती; इन सारे उदाहरणों से आपकी समझ में आ जाना चाहिए कि प्रेम में काम अनिवार्य नहीं है। प्रेम की बात में हर वक्त कहीं न कहीं से सेक्स को जोड़ देना ये एक प्रकार की मनोविकृति है। केवल विकृत मन के चिंतक ऐसा कर सकते हैं। कोई सच्चे प्रेमी, संत या प्रबुद्धात्मा से ऐसा हो ही नहीं सकता।

अकाम प्रेम में भी तड़प और पीड़ा हो सकती है।

जिन्हें है इश्क सादिक, ये कहाँ फरियाद करते हैं।

लबों पर मुहर खामोशी दिलों में याद करते हैं।

मुहब्बत में जो कैदी है न छूटेंगे वे जीते जी।

तड़पते हैं सिसकते हैं उसी को याद करते हैं।

प्यारे साधको!

कामना कुछ पाने के लिए होती है। फिर वह मोक्ष की भी क्यों न हो? परंतु कामना आखिर कामना है। और प्रेम खुद भूखा रहकर प्रेमी के लिए तांदुल लेकर जाता है।

तेरी उल्फत के कूचे में नफा पीछे ज़रूर पहले

अक्ल जाती है इस कूचे में ऐ 'ज़ामिन' गुज़र पहले।

अमेरिकन विचारधारा के कुछ भारतीय चिंतक शिवलिंग और पीठिका के प्रतीक को लेकर काम ऊर्जा को सर्वोच्च बताते हुए प्रेम का हंगामा मचाते रहते हैं। परंतु शिवलिंग और पीठिका को देखकर मेरी समझ में कुछ विशेष बात आ रही है।

भारत ने विश्व को हमेशा एक नवचिंतन दिया है। नए नए सत्यों का विशिष्ट तरीकों से इस तरह से उद्घाटन किया है कि वह अंतर के द्वारों को खोलकर वह सत्य शास्त्र बनकर धर्मशास्त्र में स्थान ले लेता है। शिवलिंग से यह साबित होता है कि प्रेमपूर्ण अवस्था में काम में उतरने



वाले प्रबुद्ध पति पत्नी से एक तीसरी संभावना प्रगट होती है और वह है परमात्मा।

शिवलिंग के दर्शन में नर-नारी के गुप्तांग स्पष्ट रूप से देखने पर भी वहाँ हमें भगवान का ही दर्शन होता है। दुनियाँ का कामी से कामी पुरुष भी शिवलिंग में स्त्री-पुरुष के स्थूल अंगों को नहीं देखता, वह हाथ जोड़कर उसमें भगवान की भावना करते हैं।

पत्थर तो शरीर के स्थूल अंगों से भी ज्यादा स्थूल है। फिर भी शिव मंदिर में शिव ही नज़र आते हैं। मनुष्य के जननांगों में भी पापी और पुण्यवान सबको शिव ही दिखता है; क्या यह भारत की एक विशेष आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं है ?

इसमें केवल काम की स्वीकृति नहीं है, न केवल स्त्रित्व और पुरुषत्व की स्वीकृति है, न केवल सृष्टि सृजन के कार्य स्वीकृति है। परंतु ये विश्व की एक प्रेम को समर्पित अद्वितीय नर-नारी के प्रेम की स्वीकृति है। प्रेम की जिस परिसीमा तक शिव पार्वती पहुँच पाए थे उस हद तक शायद ही कोई पति-पत्नी पहुँच पाता है।

मैं कहूँगी कि जो पति पत्नी उन ऊँचाईयों तक पहुँच गए वे बन गए शिव पार्वती। अर्धनारीश्वर का अर्थ क्या है ?

अर्ध नारीश्वर का अर्थ इतना ही है कि प्रेम के ध्यान बनाकर प्रेम में उस हद तक विसर्जित हो जाओ कि नारित्व नरत्व में खोने लगे और नरत्व नारित्व में विलीन होने लगे। पुरुषत्व और स्त्रीत्व का बोध विसर्जित होते होते एक ऐसा अद्वैत स्थापित हो कि वे ईश्वर रूप बन जाए और भेद तथा अहंकार पूर्ण रूप से विसर्जित हो जाए। भेद और अहंकार पूर्ण रूप से विसर्जित हो जाता है तब आपमें केवल शिवत्व ही बचता है।

शिवलिंग का दर्शन करते हुए मन में शिव और पार्वती का भाव अलग अलग नहीं आता है। वहाँ मन में केवल भगवान का भाव ही आता है। पार्वती विश्व की एक ऐसी अद्भुत नारी और अभूतपूर्व प्रेमिका है कि जिसने शिव में कभी पुरुष को देखा ही नहीं, उसने अपने प्रेमी में केवल ईश्वर को देखा। तब ईश्वर इस नारी के साथ विलीन हो गए और स्वयं अर्धनारीश्वर बन गए। अर्थात् घोषणा कर दी कि प्रेम के बिना मैं आधा हूँ, अधूरा हूँ।

प्यारे साधको !

प्रेम के बिना ईश्वर भी अधूरा है। क्यों ? क्योंकि ईश्वर को कोई प्रेम करने वाला ही नहीं होगा तो उसका अस्तित्व ही मिट जाएगा। इसीलिए जीसस ने कहा कि 'लव इज़ गॉड।' अंग्रेजी में प्रेम के लिए 'लव' शब्द है। और मैथुन क्रिया के लिए 'लव मेकिंग' शब्द है। यह स्पष्टता कुछ विशेष अर्थ देती है। मैथुन करना पड़ता है। प्रेम हो जाता है। शिवलिंग संदेशा देता रहता है कि पति पत्नी अगर प्रेमपूर्ण हैं तब मैथुन सार्थक हो जाता है। प्रेम में मैथुन भी परमात्मा है और अ-प्रेम में वह केवल वासनापूर्ति है या बलात्कार है।

प्यारे साधको !

भारत में बहुत सारी बातें एक विशिष्ट दर्शन के साथ दी हैं। ऐसा सिर्फ भारत में ही हुआ। पश्चिम के रंग से रंगे हुए लोग भारत की कई अवधारणाओं को भारत में पैदा होने के बावजूद भी पूरी तरह से नहीं समझ पाए हैं। भारत के सुभाषितकार कहते हैं कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से हैं परंतु ऐसा नहीं कहा है कि प्रेम समान रूप से है।

मैं कहती हूँ कि सृष्टि में प्रजनन का आधार काम ऊर्जा अथवा मैथुन कर्म हो सकता है परंतु जीवन के आनंद का आधार तो भाव, प्रेम और शांति ही है। अशांत जीवन जीवन नहीं है। काम मनुष्य को अशांत करता है, काम ऊर्जा शरीर के बाहर निकलकर सृजन कार्य कर सकती हैं। परंतु प्रेमऊर्जा तो हृदय में केवल प्रस्फुटित होकर ही आनंद दे सकती है। जिस क्षण में आप आनंदित हो वह क्षण मन के पार की है। मन आपको सदा व्यस्त रखता है, वह नई नई योजनाएं करता रहता है, वह आपको भटकाता है, मन आपको तनाव में रखता है। जबकि प्रेम आपको वर्तमान में रखता है। प्रसन्न और शांत कर देता है और वही सच्चा जीवन है।

मैं वर्तमान को इसलिए जीवन कहती हूँ कि जिस क्षण में आप प्रसन्न होते हो, आनंदित होते हो, उस क्षण में निर्भय और चिंतामुक्त होते हो। तब मृत्यु आपसे दूर चली जाती है। चिंता क्षणिक मृत्यु है। आनंद शाश्वत जीवन है। मौत के बाद का जीवन तो भविष्य पर निर्भर है। मृत्यु की घटना भी भविष्य पर निर्भर है। प्रत्येक योजना भी भविष्य पर निर्भर है और जीवन में जो कुछ बीत चुका है वह सब अतीत पर निर्भर था। अतीत अपरिवर्तित है और भविष्य अनिश्चित; इसलिए उन दोनों की गिनती समय में नहीं करनी चाहिए। सच्चा समय तो वही है जिसमें आप आनंदित हो लो। निरद्वंद्व और निर्भय होकर झूम लो, नाच लो, गा लो। जो गोप-गोपियाँ करते थे। पुराण में कृष्ण के पालक पिता नंद ने एक प्यारी बात कही है। उसके अनुसार जहाँ कृष्ण है वहाँ व्रज है। जहाँ कृष्ण है वहाँ आनंद है, जहाँ कृष्ण है वहाँ जीवन है। कृष्ण का अर्थ यहाँ केवल व्यक्ति नहीं करना है। यहां कृष्ण का अर्थ है साक्षात् आनंद। जो जीवन का उच्चतम सत्य है और परम ज्ञान में से घटित होता है। इसलिए वेद व्यास कृष्ण को सच्चिदानंद रूप कहते हैं।



लोग कहते हैं कि हमारा भी एक समय था, हमने भी बहुत आनंद किया है – यह क्या है ? यह केवल भोगे हुए प्रसन्न वर्तमान की ही बात है। वर्तमान में से जैसे ही व्यक्ति बाहर आता है वैसे ही अतीत और भविष्य का जन्म होता है। प्रेम आपके वर्तमान को लंबा कर देता है। परंतु मनुष्य का अहंकार और चित्र विचित्र इच्छाएं तथा स्वार्थी स्वभाव उसके वर्तमान को लंबा नहीं होने देते।

प्रिय साधको !

शिव कहते हैं कि जब आप प्रेम करो तब प्रेमरूप बन जाओ।

जब ऐसा होगा तब समय आपकी मुट्ठी में आ जाएगा। किसीने जीसस से पूछा कि आपके प्रभु के दरबार में क्या होता है ? जीसस ने कहा कि वहाँ समय नहीं होता।

इसका अर्थ क्या है ? जीसस ने बहुत गूढ़ बात कर दी है। लोगो ने ईसू को समझने में बड़ी नासमझी जताई है। ईसू कहना चाहते हैं कि आदमी हर काम में समय का हिसाब किताब लगाता है, और काम होता तो वह पूरा भी होता ! उस काम के लिए समय भी बाँटना पड़ता ! समय निकालना पड़ता ! उस काम के लिए समय पूरा भी हो जाता ! परंतु प्रेम में समय का हिसाब नहीं होता। समय का हिसाब तब संभव है जब समय का बोध रहता हो। प्रेम में समय का बोध नहीं रहता। आप देखना ! जिस कार्य को आप प्रेम करने लगते हो तब इतनी तल्लीन हो जाते हो उस कार्य में कि समय का बोध नहीं रहता।

विश्व का महान चित्रकार पिकासो से किसीने पूछा कि आप घंटों तक खड़े खड़े केनवास पर चित्र खींचते रहते हो तो क्या आपको थकान महसूस नहीं होती ? तब पिकासो ने जवाब दिया कि मैं केवल चित्र खींचने का कार्य नहीं करता हूँ, चित्र मेरा प्रेम है। मैं खो जाता हूँ चित्र में। मेरे खो जाते ही समय का बोध भी खो जाता है।

खो जाने का अर्थ है – मस्तिष्क के चंचुपात रुक जाना। आपके मस्तिष्क को जब पता चल जाता है कि आप आठ घंटे की जगह सोलह घंटे काम करते हो तब वह आपके पूरे तंत्र को विक्षिप्त करने लगता है। वह बार बार आपको स्मरण दिलाने लगता है कि आप दुगुना काम कर रहे हो। इस स्मरण से आपका मनोबोझ बढ़ जाता है जो आपमें थकान पैदा करता है। परंतु उसी कार्य को जब आप प्रेम करने लगते हो तब आपका मस्तिष्क खो जाता है। तब शरीर को कोई स्मरण दिलाने वाला नहीं रहता है कि उसने बहुत ज्यादा कार्य कर लिया। मस्तिष्क के अदृश्य होने के साथ ही समय भी अदृश्य हो जाता है। तब शरीर थकावट महसूस नहीं करता। चेतना मन के पार जाकर भी कार्यान्वित रहती है।

जीसस का कहना था कि उसके प्रभु के दरबार में केवल प्रेम ही प्रेम होता है। कितने लोग समझे होंगे ईसू को ! ईसू की बात को ! ईसू के दर्शन को ! यह कहना मुश्किल है। परंतु ईसू जब कहता है कि ईश्वर के दरबार में समय नहीं होता। तब इसका स्पष्ट अर्थ है कि वहाँ केवल प्रेम होता है, आनन्द होता है, ध्यान होता है क्योंकि केवल ऐसी अवस्थाओं में ही समय का बोध नहीं रहता।

ईश्वर समयातीत है। भारत परमात्मा को काल के काल कहता है। महाकाल ईश्वर का एक नाम है, क्यों ? क्योंकि वह प्रेमरूप है। काल विसर्जन करता है, ईश्वर सर्जन करता है। विश्व में कोई भी सृजनात्मक कार्य प्रेम के बिना संभव नहीं है। सृजन समग्रता चाहता है।

मस्तिष्क के सृजन में और हृदय के द्वारा हो रहे सृजन में बहुत फर्क होता है। हृदय के द्वारा जो सृजन होता है वह एक अविरत प्रक्रिया होती है, वहाँ घंटों की गिनती नहीं होती। प्रेम अकारण सृजनात्मक होता है। इसलिए वह ईश्वर है। ईश्वर भी सबकुछ अकारण करते हैं, गिनती से नहीं करते हैं। स्वार्थ से नहीं करते हैं। ईश्वर का सृजन सूक्ष्म रूप से दिन और रात चौबीसों घंटे चलता रहता है। फिर वह बीज में से वृक्ष बनने की लीला हो तो भी भले और माता के गर्भाशय में गर्भ का विकसित होना हो तो भी भले। प्रेम में एक संपूर्ण जीवन की अनुभूति होती है। प्रेम पूर्ण जीवन का उपासक है।

प्यारे साधको !

मनुष्य के जीवन में आखिर प्रेम की इतनी महिमा क्यों है ? और विषय वासना को निम्न क्यों माना गया ? क्योंकि काम आपको केवल गर्भाशय तक पहुंचाता है। वह गर्भाशय में आपको एक अनिश्चितता और अंधेरा देता है परंतु कोई गूढ़ प्रेम आपको वहाँ पालता है, आपकी रक्षा करता है। फिर माता का प्रेम आपको नौ महीने तक पुष्ट करता है, जन्म देता है, दूध पिलाता है, और जीना सिखाता है। वह प्रेम हृदय की भूमि से जन्म लेता है।

इसीलिए तो परमात्मा ने हृदय को काम केन्द्र से ऊपर रखा है। मनुष्य शरीर के बराबर मध्य में हृदय का स्थान है। वह प्रेम केन्द्र से अगर बाकी सभी केन्द्रों का अनुनियमन हो तो जिंदगी बोझ नहीं लगती। न इतनी हत्याएं होतीं ना आत्महत्या ना क्रोध होता ना बलात्कार। क्योंकि प्रेम सम्यक अनुशासन कर सकता है। तलवार के कानून से प्रेम का कानून ज्यादा सफल रहता है। वह बुद्ध का कानून है, वह महावीर

का कानून है। आज का मनुष्य इस केन्द्र का उपयोग कम से कम करता है।

आज आदमी इतना परेशान क्यों है ? क्योंकि कभी कभी वह काफी ऊपर चढ़ जाता है। और सारे प्रश्नों का बौद्धिक समाधान ढूँढता है। एक बार मस्तिष्क तक चढ़ गया हुआ आदमी फिर हृदय तक उतरने में मुश्किल महसूस करता है। हर बात में मस्तिष्क का टांग अड़ाना जरूरी नहीं होता। परंतु आदमी ऐसा ही कर रहा है। अथवा इतना नीचे गिर जाता है कि विषय वासना के केन्द्र से सुख शांति पाने का प्रयास करता है। दोनों गलत हैं।

मेरी बात को ज़रा ध्यान से समझना। न मस्तिष्क गलत है ना काम केन्द्र गलत है। परंतु उन दोनों से गलत ढंग से काम लेने का मनुष्य का तरीका गलत है। प्रत्येक प्रश्न का समाधान न बुद्धि दे सकती है ना विषयभोग दे सकता है।

सिर्फ प्रेम एक ऐसा मार्ग है कि जहाँ से गुज़रकर मनुष्य कल्याण की ओर जाता है। प्रेम हृदय की उपज है। प्रेम में मनुष्य का मन ठहर जाता है, बुद्धि स्थिर हो जाती है और अहंकार गिर जाता है। प्रेम की उच्चतम अवस्था में विषय वासना भी तिरोहित हो जाती है। तब केवल शुद्ध चेतना शरीर के जरिए कार्यावित रहती है। ऐसे क्षण आपको आपके विशुद्ध अस्तित्व का बोध कराते हैं। जहाँ आनंद और स्वतंत्रता का बोध होता है। ऐसे क्षण में आप राजा के राजा हो। देवों के देव हो और भगवान के प्रेमभाजन हो।

आपने देखा होगा कि प्रेम में पड़ा हुआ गरीब से गरीब और साधारण से साधारण मनुष्य भी नाचता, कूदता, कविता बनाता मस्त नज़र आता है, क्यों ? क्योंकि प्रेम की अवस्था में पहली बार वह खुद से परिचित होता है। उसे अहसास होता है कि उसमें भी कुछ ऐसा है कि जिससे कोई उसे प्रेम कर सकता है। और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उसमें कुछ ऐसा है कि वह किसी को कुछ दे सकता है। साधारण आदमी भी प्रेम में सम्राट जैसा अनुभव करता है क्योंकि वह प्रिय पात्र को कुछ ऐसा अमूल्य दे सकता है कि धन से जिसका मूल्य नहीं लगाया जा सकता। वह देने का आनंद उसे पागल बना देता है। उसके वजूद को बढ़ा देता है।

प्यारे साधको !

तीन प्रकार से देना होता है। एक प्रेम से, दूसरा अहंकार से, तीसरा तिरस्कार से। प्रेम से दिया हुआ प्रसाद बन जाता है, अहंकार से दिया हुआ भीख बन जाता है और तिरस्कार से दिया हुआ तिरस्कार ही बन सकता है।

मनुष्य के जीवन में सदा प्रेम की खोज क्यों रहती है ? आश्चर्य की बात तो यह है कि हिटलर भी प्रेमविवाह करता है, क्यों ? क्योंकि माता के प्रेम से वह गर्भ में पला, प्रेम ने उसको स्तनपान कराया, प्रेम ने ही उसका लालन पालन किया। ढेर सारे प्रेम की वजह से मनुष्य खड़ा होता है। खड़ा होने के बाद वह जवान होता है। जवान होने के बाद उसके प्रेम का केन्द्र बदल जाता है। परंतु प्रेम की मांग कम नहीं होती। मनुष्य भूल जाता है कि मैं ढेर सारा प्रेम पाकर खड़ा हुआ हूँ तो अब मेरा दायित्व बनता है प्रेम देने का, प्रेम ढूँढने का नहीं। ऐसी समझ का अभाव मनुष्य की बेसिक भूल बन जाती है।

पहले तो यह समझ लेना चाहिए कि प्रेम देने से अनेक गुना होकर वापस लौटता है, वह कभी मांगने से नहीं मिलता, वह कोई चीज नहीं है कि मांगने से आप प्राप्त कर लो। मनुष्य की नासमझी के कारण प्रेम पीड़ादायक बन जाता है। आप जब प्रेम देना आरंभ कर देते हो, प्रेमरूप बन जाते हो, प्रेम को ध्यान बना लेते हो, प्रेम को उपासना और आराधना बना लेते हो, प्रेम को लक्ष्य बना लेते हो तब आप सबसे ऊपर उठ जाते हो। परंतु आदमी को आदत हो गई है केवल लेने की, तब देने में वह कंजूस बन जाता है। क्योंकि उसका सुख तो केवल बटोरने में ही है, बाँटने में नहीं। उन्हें पता नहीं है कि प्रेम केवल बाँटा जा सकता है। बटोरा नहीं जा सकता है। कंजूस आदमी जब प्रेम बटोरने में विफल रहता है तब दुखी हो जाता है। प्रेम पाने के लिए उसे प्रेमरूप बनना पड़ेगा तब वह आनंदित, तृप्त और प्रसन्न हो जाएगा। प्रेम एक ऐसा धन है कि जो विद्या की भांति है। जो बाँटने से बढ़ता है। इसीलिए तो शिव कहते हैं कि प्रेम करते वक्त प्रेमरूप बन जाओ। आपने दो प्रेमियों को अथवा दो मित्रों को कभी देखा है ध्यान से ? वे एक दूसरे में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उन्हें आस पास की दुनियाँ का भान ही नहीं रहता। वे अपने अपने में मस्त नहीं होते, परंतु एक दूसरों में मशगूल होते हैं ? उन्हें देखकर कंजूस और अहंकारी किस्म के लोगों को तकलीफ होती है। क्योंकि अहंकार हमेशा कहता है कि मेरी आवाज सुनो। सबकुछ मेरे इर्द गिर्द होना चाहिए, वहाँ केन्द्र में 'मैं' होता है। जबकि प्रेम के केन्द्र में सिर्फ प्रेम ही होता है। कंजूस कहता है कि सब मुझको दो, मैं किसीको कुछ नहीं दूंगा। प्रेमी कहता है कि मैं तो देने के लिए ही हूँ, आप जितना हो सके उतना ले लो। प्रेमी कहता है कि मैं हूँ ही नहीं, केवल प्रेम ही है।

जब ऐसा होता है तब प्रेम ही पूजा प्रार्थना, आराधना और ध्यान बन जाता है। ऐसे क्षण में आप राम और कृष्ण से कम नहीं हैं। यहाँ मुझे मेरा एक ग़ज़लनुमा भजन याद आ रहा है –

मुझ साधना आराधना और अर्चना बस प्रेम है  
मुझ प्रार्थना उपासना अभ्यर्थना बस प्रेम है।

मुझ साधना...

किसकी भजूं किसको स्मरू किसको चढ़ाऊं फूल मैं  
किसको पूजूं किसको त्यजूं मेरी पूजा तो प्रेम है।

मुझ साधना...

सर्वात्मने नमः मंत्र मेरा मैं मैं करी मैं क्या करूँ  
यहाँ पिघली ममता अहंता झरना बहा वह प्रेम है।

मुझ साधना...

ना खुद से न अन्य से ना एक से ना अनेक से  
आकाश से अग्नि तलक कण कण तलक का प्रेम है

मुझ साधना...

ना एषणा कोई बची ना कोई आकांक्षा रही  
निर्मूल सभी आशा अपेक्षा बस प्रेम खातिर प्रेम है

मुझ साधना ...

ना दुःख से ना स्वार्थ से हो मोहिनी परमार्थ से।  
न स्थूल से पर सूक्ष्म से तो यथार्थ तेरा प्रेम है।

मुझ साधना...

दुनियाँ में तीन प्रकार के लोग होते हैं। पहले प्रकार के लोग कुछ बनना चाहते हैं। दूसरे प्रकार के लोग कुछ बन गए हैं। और तीसरे प्रकारके लोग कुछ भी बनना नहीं चाहते, वे स्वयं में संतुष्ट हैं। जिन्होंने स्वयं को जान लिया उन्हें बाहर से कुछ भी सीखने की, ओढ़ने की या बनने की जरूरत नहीं रहती। ऐसे लोग ज्ञानी की कक्षा में आते हैं। ऐसे लोग ही किसी एक व्यक्ति के प्रेमी नहीं परंतु अज्ञातशत्रु बन जाते हैं। उनका प्रेम समष्टिगत होता है। वे स्वयं प्रेमरूप बन जाते हैं। वे बहने देते हैं अपना प्रेम जीव प्राणीमात्र के लिए, ऐसे लोगों ने प्रेम को ही ध्यान बना लिया होता है।

आप जब प्रेमरूप बन जाते हो तब बौद्धिक प्रयास, अहंकार और मन की सारी अपेक्षाएं तथा इच्छाएं गिर पड़ती हैं और ऐसी अवस्था में वहाँ व्यक्ति की उपस्थिति होने पर भी व्यक्ति अदृश्य हो जाता है, सारे मनोभार खो जाते हैं और सिर्फ प्रसन्नता रहती है। वही परमात्मा की अनुभूति है। और ऐसी अनुभूति बार बार पाने के लिए कुछ सूफी संत प्रेम रस में डूबे रहना चाहते हैं। ऐसे दिव्य प्रेम की अवस्था में किसी दूसरे की जरूरत नहीं रहती है।

प्रेम में मनुष्य जब आनंद का अनुभव करता है, जब तनावमुक्ति का सहज अनुभव होता है तब वह उस मुक्ति को हमेशा बनाए रखने के लिए प्रेम को विविध रिश्तों में बांध देना चाहता है। कोई पति-पत्नी बनकर, कोई किसी को राखी बांधकर, कोई किसीको बिजनेस पार्टनर बनाकर, कोई समधी समधिन बनकर। परंतु ये बेवकूफी है। गलती यहाँ से शुरू होती है। क्योंकि हर रिश्ता एक जिम्मेदारी लेकर आता है। और हर रिश्ता कुछ न कुछ अपेक्षा रखता है। रिश्तों के कारण मांग और कर्तव्यभाव शुरू हो जाता है। उससे तनाव पैदा होता है। तनाव मुक्ति का माध्यम तनाव पैदा करने के लिए निमित्त बन जाता है। प्रेम की बोली अलग होती है तथा अधिकार और फर्ज की भाषा अलग होती है। मैं कहती हूँ कि प्रेम के पलों को चिर स्थायी करने के लिए रिश्तों में बंधने की जरूरत नहीं है, प्रेमरूप बनने की जरूरत है।

अगर रिश्तों में प्रेम पनप जाता है तो यह एक अलग बात है। परंतु प्रेम को रिश्ता बनाने का प्रयास करना यह गलत है। प्रेम-पूर्ण बनते जाओ। सबको प्रेम बांटते जाओ, परंतु सजग रहो कि मोहबुद्धि अथवा स्वार्थबुद्धि आपके प्रेम में विक्षेप न कर दे। जब बुद्धि हिसाब किताब लगाने लगती है तब प्लस को माइनस और माइनस को प्लस कर देगी। मोह प्रेम के गले का फंदा बन जाएगा। और स्वार्थ तो प्रेम का गला ही घोट देगा।

प्यारे साधको!

प्रेमपूर्ण वर्तमान को छोड़कर उस वर्तमान को भविष्य बनाने का प्रयास एक प्रकार का लालच है। फल का लालच प्रेम को नष्ट भ्रष्ट कर

देता है। रिश्ते नातों के बंधन में प्रेम खत्म हो जाता है। उसकी सुवास मर जाती है। प्रेम तो स्वयं मुक्ति है। इसलिए तो प्रेमियों को और भक्तों को मुक्ति की चाह नहीं होती। आप मुक्ति को बंधन कैसे बना पाओगे ?

मुक्ति बंधन से विपरीत नहीं है। न बंधनों की विरोधी है। वह तो है बंधनों के पार की अवस्था।

एक दूसरी बात भी याद रहे। प्रेम के लिए कारण ढूंढने वाले लोग अकसर चालाक होते हैं। वे प्रेम नहीं करते, वे स्वार्थ पुष्ट करते हैं। वे प्रेम कर भी नहीं सकते। ऐसे लोग केवल कोन्ट्रैक्ट कर सकते हैं। ऐसे लोग मानसिक रूप से नपुंसक होते हैं। वे फना होने से डरते हैं। गँवाने से डरते हैं। वे कुछ भी खोना नहीं चाहते हैं। ऐसे लोग सप्रयोजन प्रेम करते हैं। ऐसा प्रेम अपनी सलामती ढूंढता है। परंतु वास्तव में नर्क बन जाता है।

तर्क बुद्धि और अहंकार की वेदी पर प्रेम बलि चढ़ जाता है। प्रेम में औपचारिकता का प्रवेश प्रेम की गरिमा के खिलाफ है। यहाँ मुझे राधा-कृष्ण का एक छोटा सा संवाद याद आ रहा है। पुराण के उस संवाद को मैंने दोहे में ढाला है। द्वारिका आ जाने के पश्चात बरसों बाद श्रीकृष्ण और राधा किसी स्थान पर मिलते हैं। वहाँ बात की शुरुआत करने के लिए कृष्ण राधा से पूछते हैं –

कहो राधिके कृष्ण से, क्षेम कुशल समुझाई।

मन तो मुझ में मगन है, तन दुबरो दरसाई।।

आप कैसी हो ? मैं जानता हूँ कि आपका मन तो मुझमें ही मगन है, परंतु शरीर कुछ सूख गया है। तब राधा जवाब देती है कि आज मुझे लगता है कि मैं यहाँ नहीं आती तो अच्छा होता, क्योंकि आज आपने हमारे बीच द्वैत खड़ा कर दिया।

दूर ही ते हम एक थे, मिलकर हो गए दोई।

मोहिनी रीति प्रीत की, नहीं जानत सबकोई।।

हे कृष्ण ! हमारे बीच में शब्दों की कोई जगह ही नहीं थी। क्योंकि शब्दों से सत्य बताया नहीं जा सकता और समझाया भी नहीं जा सकता। ये तो अनुभूति की बात है। क्या आप मेरी स्थिति नहीं जानते हैं कि आपने क्षेम-कुशल पूछ लिया ? मेरा मन तो आपके पास है।

प्यारे साधको !

मनुष्य मन में जीता है। जब मन नहीं रहता तब वह प्रबुद्ध बन जाता है। राधा ज्ञान की उच्च भूमिका पर जी रही है। पूछना दूसरों को पड़ता है, अपनों को तो जान लेना होता है। मनुष्य ज्यादातर शब्द का उपयोग औपचारिकताएं निभाने के लिए ही करता है। व्यवहार में ऐसे शब्द प्यारे लगते हैं परंतु प्रेम में भदे लगते हैं। प्रेम की गहनता में शब्दों की जगह ही नहीं बचती, वहाँ केवल भाव का आदान प्रदान स्वतः ही होता रहता है।

प्रेमावस्था में मनुष्य ज्यादा से ज्यादा खुल सकता है, विकसित होता है। विकसित होना ही जीवन है। विकसित होना परमात्मा का स्वभाव है। संसार में मनुष्य संकुचित हो जाता है। संकुचित होना मृत्यु है। खिलना ही जीवन है। प्रेम में मनुष्य खिल उठता है, क्यों ? क्योंकि अपने प्रिय पात्र के पास उसे खुलने का मौका मिलता है। वहाँ सारे मुखौटे उतारकर जीने में एक प्रमाणिक जीवन का अनुभव होता है। आपने समाज में देखा होगा एक बच्चा अपने माँ-बाप, भाई-बहिन के पास जितना दिल नहीं खोलता उतना अपने दोस्तों के पास खोलता है। घर में संकुचित हो जाने वाला बच्चा दोस्तों को मिलकर खुश खुशाल हो जाता है। खिल उठता है। हंसता है, चिल्लाता है, जोक करता है, क्यों ? क्योंकि वहाँ कोई दबाव नहीं है, सिर्फ प्रेम है। वह प्रेम सभ्यता और थोपे हुए शिष्टाचार से नहीं होता, परंतु सच्चा होता है, मूल रूप में होता है।

प्रेम के कारण आपकी संतान मित्रों के साथ सबसे ज्यादा गहनता, स्वतंत्रता और समानता का अनुभव करती है। समाज व्यवस्था और लौकिकविवेक के लिए संसार की सभ्यता और शिष्टाचार जरूरी है परंतु शिष्टाचार के दबाव में पैदा होती असमानता और मर्यादा के बंधन में प्रेम घुटन महसूस करने लगता है। मनुष्य जब प्रेम में होता है तब संसार में रहकर भी संसार के पार के जीवन की एक अनुभूति करता है। जहाँ आदमी खुलकर श्वास लेता है। दिल की बातें कर सकता है। अपने सपनों को बाँट सकता है। वहाँ उसे शेखचल्ली नहीं माना जाता। वहाँ न उसकी बात को काटा जाता है, ना मज़ाक उड़ाया जाता है। प्रेम हमेशा हौसला बढ़ाता है, संसार मनुष्य को तोड़ता रहता है।

मेरे अनुसार जहाँ स्वार्थ और अधिकार का भाव है वहाँ संसार और जहाँ प्रेम और समर्पण है वहाँ परमात्मा हैं। परमात्मा हमें हमेशा कुछ न कुछ देते रहते हैं। संसार आपके पास कुछ न कुछ मांगता रहता है।

शिव कहते हैं कि जब आप किसी से प्रेम करो तो प्रेमरूप बन जाओ।

प्रिय साधको !



प्रेम को ध्यान बना दो। समग्रता से और गहनता से प्रेम करो। जब आपसे ऐसा हो जाएगा तब आपको कोई गीता, कुरान, रामायण या बाइबल की जरूरत नहीं रहेगी। आपका प्रेम ही आपको भगवद्ता प्रदान करेगा।

## धरणा - ७५

### सद्गुरु ध्यान

प्रिय साधको!

अगर आपके पास एक श्रद्धावान हृदय है और आप ध्यान की आत्मा हैं तो आपको आपकी खोज और पात्रता के अनुसार गुरु मिल ही जाएंगे। अप्रगट से प्रगट को समर्पित होना आसान हो जाता है।

कभी कभी ध्यान शिबिर के दौरान मेरे पास कुछ विशेष प्रकार के साधक आते हैं। ध्यान शिबिर के दौरान उन्हें कुछ ध्यान विधियाँ बताई जाती हैं। परंतु जब उन्हें विधि में उतरने को कहते हैं और बाद में पूछते हैं कि ध्यान साधना के दौरान क्या घटित हुआ? अथवा कैसा अनुभव हुआ? विधि के साथ आप संधान जोड़ पाए या नहीं? चित्त शांत था कि अशांत? ध्यान मार्ग सरल लग रहा है कि कठिन? तब कुछ साधक कहते हैं कि मैया! मैंने तो आंख बंद की और आप ही मेरी नजरों के सामने आती रहीं। फिर मैंने आप पर ध्यान लगा दिया और शांति मिल गई। कुछ लोग कहते हैं कि मुझे तो आंख बंद करते ही मेरे गुरु का स्मरण हुआ और गुरु के स्वरूप में ध्यान लग गया। ध्यानविज्ञान की दृष्टि से देखा जाए तो ऐसा करना बिल्कुल गलत है। बताई हुई विधि में असफल गए हैं वे लोग जो ऐसा करते हैं क्योंकि जिस धारणा में उतरना था उसमें नहीं उतरे। उन्होंने प्रयास ही नहीं किया समग्रता से निश्चित ध्यान विधि में उतरने का। कि जिससे उसकी संपूर्ण चेतना घनीभूत होकर विधि में केन्द्रित हो। वे एक विधि के स्थान पर सीधे दूसरी विधि में सरक गए, जो उसके लिए आसान थी, परंतु पहली विधि को चूक गए। खैर!

ऐसे साधको का एक अलग दृष्टि से अभ्यास करना पड़ता है। ऐसे साधकों के हृदय को समझना पड़ता है। उन्हें संभालना पड़ता है। उनका विशेष रूप से सहयोग करना पड़ता है। ऐसे लोग न तो अन्य विधियों से पलायन करते हैं न तो उनमें प्रयास का अभाव है। परंतु वे अपने गुरु के प्रति इतने भावनाशील हैं, इतने प्रेम से आस्था से श्रद्धा से और भक्ति से भरे हुए हैं कि अन्य ध्यान विधियों में उतरने में वे विक्षेप का अनुभव करते हैं अथवा प्रयास करने पर भी चित्त सहयोग नहीं कर रहा है। ऐसी स्थिति में वे विवश हो जाते हैं। तब उसकी चेतना मदद ढूंढने लगती है। गुरुओं के सिवाय तो इस मार्ग में कौन मदद कर पाएगा?

ऐसे साधक एक अर्थ में गुरु भक्त होते हैं। बच्चे जैसे होते हैं। बच्चा मुश्किल में होता है तो तुरंत माँ के पास दौड़ जाता है। माँ के पास से उन्हें मदद भी मिलती है, मार्गदर्शन भी मिलता है और सुरक्षा का अनुभव भी होता है। परंतु उनका भावुक हृदय एक बात का विस्मरण कर जाता है कि गुरु जैसा करने को कहते हैं वैसा करना होता है। भागकर गुरु को नहीं पकड़ लेना है। परंतु ऐसे साधक बच्चे जैसे होते हैं। जिनका हृदय बच्चे जैसा होता है उसका इरादा वास्तव में कठिन ध्यान विधियों में गुरु से मदद लेना का होता है। परंतु गुरु का स्मरण होते ही वे खो जाते हैं अपने गुरु में। और विधि को भूलकर गुरु में स्थिर हो जाते हैं।

बच्चा जब माँ के पास प्रश्न लेकर आता है तब प्रश्न छोटा बन जाता है। और माँ की उपस्थिति बड़ी बन जाती है। माँ की उपस्थिति से वह सुरक्षा का अनुभव करने लगता है और प्रश्न को भूलकर खुशखुशाल हो जाता है। बच्चे का अर्थ है जिसके पास प्रेम जगत बड़ा है और बुद्धि जगत तथा मनोजगत छोटा, कभी कभी तो शून्य के बराबर। उसका तर्क जगत अविकसित होता है। बड़ा होने के बाद दुनियाँ के सप्तरंगी अनुभव उसे तर्क के कवच से सुरक्षित रहना सिखा देता है। क्योंकि तब उसके पास माँ नहीं होती है। अथवा उसका अहंकार इतना बड़ा हो जाता है कि वह अहंकार के बल पर टूट टूट कर बनना पसंद करता है परंतु माता पिता का मार्गदर्शन लेना अथवा उनके अनुभवों का उपयोग करना पसंद नहीं करता। क्योंकि उसका मन बड़ा हो गया है। विकसित मन अहंकार को जन्म देता है। वह सबकुछ अपनेआप कर लेना चाहता है। वह न किसीका सहयोग ले सकता है न समर्पण कर सकता है।

भारतीय धर्म शास्त्र भक्त को बालक कहता है। भक्त प्रभु का बच्चा है। क्यों? क्योंकि उसका प्रेम जगत ज्यादा विकसित है और मनोजगत कम। मन का कम विकसित होने का अर्थ है निर्मलता का बचे रहना। सरलता और सहजता का ज़िंदा रहना।

मानस के अरण्य कांड में श्री राम कहते हैं कि -

बालक सुत सम दास अमानी

अमानीपन आपको अमनी अवस्था तक जल्दी पहुंचा सकता है। अमानीपन आपको समर्पित होने देता है। अमानीपन स्वीकार भाव को विकसित होने देता है। अमानीपन मिथ्याभिमान से बचाए रखता है। बच्चे जैसा मन साधना मार्ग में बहुत मदद करता है। ऐसा मनुष्य ध्यान में जल्दी उतर सकता है। क्योंकि उसके पास तर्क वितर्क नहीं होते। उसके पास अपने गुरु के प्रति केवल आस्था होती है, उसे केवल श्रद्धा होती है अपने गुरु के वचनों में। और उस श्रद्धा के बल से वे विधि में जल्दी उतर सकते हैं। परंतु कभी कभी मैंने कहा ऐसा भी हो सकता है कि विधि में उतरना कठिन लगते ही वे मानसिक रूप से दौड़कर भाग जाता है गुरु के चरण में और विधि को छोड़कर गुरु का ध्यान करने लगते हैं। यह सब उसके मन का प्रक्षेपण ही होता है। परंतु उसकी श्रद्धा के कारण वे अपनी कल्पना में सफल हो जाते हैं और गुरु का स्वरूप उनकी नजरों के सामने आते ही उसका चित्त शांत हो जाता है। उसे सहारा मिलते ही वह निर्भय होकर स्थिर हो जाता है। उसका ध्यान लग जाता है। परंतु सिर्फ गुरु में।

ध्यान की विविध विधियों में से गुजरने वाला साधक ऐसा करे तो ये बात निषेध मानी जाती है। क्योंकि जो गुरु बताते हैं उसी विधान से साधना में आगे बढ़ना होता है।

परंतु मैं कहूँगी कि भक्त हृदय के लिए घूम फिरकर गुरु में ही ध्यानस्थ हो जाना स्वाभाविक है। आपसे अगर ऐसा हो जाता है तो इसमें कुछ भी गलत नहीं है। भक्त हृदय के लिए ऐसा ही होगा। साधक का मुख्य ध्येय होता है भीतर से स्थिर होना। चित्त का शांत होना। जिस विधि से वह गुजर रहा है उस विधि से मदद नहीं मिल रही है तो वह उसकी चेतना गुरु की ओर मोड़ देता है और ध्यान में गुरु के उपस्थित होते ही उसका चित्त प्रसन्नता से भर जाता है। वह सबकुछ भूल जाता है। और एक माता या पिता की उपस्थिति में बालक निर्भय और निश्चिंत होकर, शांत होकर जैसे सो जाता है वैसे ही गुरुभक्त साधक सहजता से ध्यान समाधि में खो जाता है। ऐसा होने में कोई हर्ज इसलिए नहीं कि साधक का आत्यांतिक ध्येय ध्यानस्थ होना ही होता है। विधि भले कोई भी हो लक्ष्य तो एक ही है। माध्यम भले कोई भी विधि हो परंतु केन्द्र में ध्यान है। केन्द्र में है चित्त की शांति, आनंद और शाश्वतता।

मेरे पैंतीस वर्ष के ध्यान मार्ग अनुभव के बाद मैं कह सकती हूँ कि ध्यान में तीन प्रकार के साधक आते हैं। एक ज्ञान या ध्यान को पाना नहीं चाहते, उनकी खोज कोई अलौकिक नहीं होती वे केवल मनोविकृतियाँ, मानसिक तनाव, चिंता और प्रश्नों से घिरे हुए होते हैं। उनमें से रास्ता ढूँढने के लिए आते हैं।

ध्यान सारे प्रश्नों के समाधान के लिए एक सर्वश्रेष्ठ रास्ता है। परंतु कुछ लोगों को केवल रास्ते को देखना है, जान लेना है, उसपर चलना नहीं है। ऐसे लोग ध्यान शिबिर में आकर केवल आश्वासन ढूँढ लेते हैं।

वे इलाज ढूँढने के लिए आते हैं। उन्हें केवल प्रिस्क्रिप्शन चाहिए, वे दवाई खाना नहीं चाहते, उन्हें किसी भी प्रकार की परहेज पसंद नहीं। ऐसे लोग क्षणजीवी होते हैं। वे गहन आध्यात्म जगत का कभी भी अनुभव नहीं कर सकते। ऐसे लोगों का ध्यान शिबिर में आना कोई खास माईना नहीं रखता। ऐसे लोगों के बीच में कोई धर्मक्रांति या आध्यात्मिक क्रांति नहीं घट सकती। कोई विशेष माहौल नहीं बन सकता। ऐसे लोग ज्यादा गाणितिक, चालाक, अंदर से बंद, दुखी फिर भी दंभी तथा स्वार्थी होते हैं। दंभ के आवरण के कारण ऐसे लोगों पर शक्तिपात करना भी निरर्थक है।

दूसरे प्रकार के साधक मुमुक्षु कक्षा के होते हैं। वे वास्तव में मुक्त होना चाहते हैं। उन्हें ज्ञान की खोज होती है, अपने अज्ञान का बोध भी होता है। उन्हें ध्यान से प्रेम होता है। वे ध्यान के लिए ही आए हुए होते हैं परंतु उसका ध्येय मात्र और मात्र ध्यान होता है।

ऐसे लोग ज्ञानी के माध्यम से, गुरु के मार्गदर्शन से, आत्मनिष्ठ पुरुष की मदद से संसार से ऊपर उठ जाते हैं। जैसे कि बुद्ध। बुद्ध ने इक्कीस गुरु बदले थे। गुरुओं के मार्गदर्शन में बुद्ध विकसित होते गए। बुद्ध के खोजे हुए गुरु भी प्रमाणिक थे। कुछ समय के बाद वे बुद्ध को कह देते थे कि हमारे पास जितना था उतना आपको दे दिया अब आप अपने आध्यात्मिक विकास के लिए आगे जा सकते हो। यह परंपरा आगे भी बढ़ी।

सारीपुत्त ने बुद्ध के पास से ज्ञान प्राप्त कर लिया फिर बुद्ध ने उसे प्रमाणित कर दिया कि अब आप गुरु बन गए। अब जाओ और दूसरों को ज्ञान में ले जाओ। और सारीपुत्त आगे निकल पड़े। गुरु गोरखनाथ मच्छंदरनाथ से भी आगे बढ़ चुके थे।

पहले प्रकार के साधक का अज्ञान का बोध होता है परंतु ज्ञान की अभीप्सा नहीं होती है। अज्ञान का बोध होना यह ज्ञान की पहली सीढ़ी है परंतु कुछ लोग पहली सीढ़ी पर ही रुक जाते हैं। एक अर्थ में वे चालाक होने पर भी मूढ़ जैसे होते हैं। वे अज्ञान से निकलना चाहते हैं परंतु ज्ञान की ओर गति नहीं करते हैं। तब गुरु भी क्या करे? ऐसे लोग गुरु के पास आते हैं परंतु आश्वासन पाने के लिए। और युक्ति प्रयुक्तियाँ जानने के लिए आते हैं। उन्हें पता नहीं होता कि ज्ञान युक्ति प्रयुक्तियों से प्राप्त नहीं होता। इसके लिए तो समर्पित हो जाना पड़ता है। जीवन में

जो कुछ भी अनावश्यक है उसे भस्मीभूत कर देना पड़ता है। अगर ऐसे लोगों को इस बात का पता भी चल गया तो भी उन लोगों की मिटने की कोई तैयारी नहीं होती। वे मनजीवी होते हैं।

तीसरे प्रकार के साधक, भक्त कक्षा के होते हैं। वे ज्ञान में प्रवेश कर लेते हैं परंतु भक्ति के माध्यम से। वह भक्ति प्रभु भक्ति और गुरु भक्ति हो सकती है परंतु गुरु भक्ति प्रभु भक्ति के लिए मार्ग बन जाता है। ऐसे भक्तों को ज्ञान से ज्यादा गुरु से प्रेम होता है। उनकी असल खोज गुरु ही होती है। ज्ञान के लिए वे स्वार्थी नहीं हो सकते हैं। परमार्थ और आत्मकल्याण के लिए भी वे स्वार्थी नहीं हो सकते। वे सच्चे प्रेमी होते हैं। ज्ञान के लिए न वे गुरु को छोड़ सकते हैं न बदल सकते हैं। ऐसे भक्त एक अलग मानसिकता वाले होते हैं।

उनके लिए ज्ञान सर्वस्व नहीं होता, गुरु सर्वस्व होते हैं। उन्हें भरोसा होता कि एक बार गुरु मिल गए तो ज्ञान तो सहज ही मिल जाएगा। परंतु ऐसे लोग किसी भी गुरु से नहीं चला सकते। वे हमेशा अपने तार कहाँ जुड़ सकते हैं? किसके हाथ में वह अच्छी तरह से बज सकते हैं? उसके साज को कौन ढंग से बिठा सकता है और प्रेम से सभाल सकता है? उसकी खोज में रहते हैं।

अंग्रेजी में एक बहुत प्यारा शब्द है, वेवलेंथ। ऐसे साधक को जहाँ लगे कि उसके दिल की वेवलेंथ मिल सकती है, वे वहाँ समर्पित हो जाते हैं। ऐसा हो सकता है कि ऐसे शिष्य ज्ञान की बात में बिलकुल घाटी में खड़े हों और फिर भी गुरु शिष्य के बीच में कहीं हार्दिक ताल-मेल इतना गहरा हो कि ऐसे शिष्य किसी भी मूल्य पर अपने गुरु को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते हैं। केवल शिष्य ही नहीं परंतु गुरु को भी ऐसे शिष्यों की तलाश होती है। कि जहाँ गुरु शिष्य दोनों में अस्तित्वगत रूप से कहीं समानता हो। ऐसे गुरु शिष्य विरले होते हैं।

एक बार एक गुरुनिष्ठ शिष्य को देवताओं ने आकर कहा कि तू तेरे गुरु को छोड़ दे हम तुझे स्वर्ग का राज्य देंगे। तब शिष्य ने कहा कि मैं क्या करूँ स्वर्ग के राज्य को? मेरा स्वर्ग तो वहाँ है जहाँ मेरे गुरु हैं। मुझे मेरे गुरु छिन जाएंगे तो मेरे अज्ञान के कारण मैं स्वर्ग को भी नर्क बना दूँगा। इसलिए मुझे स्वर्ग का राज्य नहीं चाहिए।

तब देवों ने कहा कि देवों की बात की अवज्ञा करेगा तो नर्क में जाएगा। तब शिष्य ने कहा कि आप मुझे नर्क नहीं दे सकते। क्योंकि जहाँ गुरु है वहाँ ज्ञान है, जहाँ ज्ञान है वहाँ सत्य और सजगता है, और जहाँ सत्य और सजगता है वहाँ नर्क कभी नहीं हो सकता। ज्ञान प्रत्येक नर्क को मिटा देता है। आप मुझे नर्क में भेजने की गलती मत करना। क्योंकि मैं मेरे गुरु के प्रति इतना समर्पित हूँ कि मैं तो अब बचा ही नहीं हूँ। जब मैं हूँ ही नहीं तो आप किसे नर्क भेजेंगे? अगर गलती से भी आपने ऐसा कर दिया तो मेरे समर्पण की वजह से मेरे बदले मेरे गुरु नर्क चले जाएंगे। क्योंकि वे मुझे बहुत प्रेम करते हैं।

मैं मेरे गुरु को अच्छी तरह से जानता हूँ। वे अत्यंत करुणावान और प्रेमपूर्ण आत्मा हैं। अगर वे नर्क चले गए तो आपकी स्वर्ग की राजनीति को बड़ा खतरा हो जाएगा क्योंकि प्रत्येक स्वर्ग नर्क के भय के कारण टिका है। नर्क के डर से स्वर्ग का आकर्षण है। मेरे गुरु अगर चले गए नर्क में तो नर्क स्वर्ग बन जाएगा। अगर ऐसा हो गया तो फिर आपका स्वर्ग दो कौड़ी का हो जाएगा। क्योंकि आपका स्वर्ग भोग पर खड़ा है। मेरे गुरु का स्वर्ग ज्ञान पर खड़ा होगा। स्वाभाविक है कि ज्ञान की सत्ता ही शाश्वत है। अंत में देव घबराकर चले गए।

बात भी सही है, अमरीका जैसे भोगवादी राष्ट्र में पैदा होने वाला और विश्व के धनाढ्य तथा सबसे लंबा आयु भुगतने वाला डेविड मार्क भी ज्ञान को ही मनुष्य की सच्ची ताकत मानता है धन को नहीं।

मैं कहती हूँ कि अज्ञान नर्क का सृजन करता है ज्ञान स्वर्ग का। ज्ञानी जहाँ होता है वहाँ स्वर्ग बसा देता है और अज्ञानी गलत वाणी वर्तन और विचार से नर्क का माहौल पैदा कर देता है।

जो गुरु के प्रति समर्पित होना सीख लेता है वह स्वर्ग के लालच और नर्क के भय से मुक्त हो जाता है, क्यों? क्योंकि गुरु के सानिध्य में शिष्य बदल जाता है। गुरु आपको पुनर्जन्म देता है। एक अर्थ में गुरु माता है। आपका पहला जन्म आप एक नारी से लेते हैं और दूसरा जन्म गुरु के सानिध्य में घटित होता है। वह जन्मदात्री नारी भी अगर ज्ञाननिष्ठ है तो आपकी गुरु बनकर पुनर्जन्मदात्री और सही माता बन सकती है।

गुरु के सानिध्य में आपका दूसरा जन्म घटित हो जाता है। गुरु और शिक्षक में इतना ही फर्क है। शिक्षक पुस्तकों की बातों को सिखाता है। वह आपके मस्तिष्क को ज्ञान की बातों से भरता है। परंतु गुरु आपके रोम रोम को ज्ञानपूर्ण कर देता है। गुरु के सानिध्य में आप व्यक्ति मिट जाते हैं। वहाँ व्यक्ति नहीं बच सकता। व्यक्तित्व तो मनुष्य का ऊपर का स्वरूप है। वह स्वरूप मिट जाता है और केवल ज्ञान ही बचता है। केवल नाम और रूप जैसे थे वैसे ही रहने पर भी आपको एहसास होगा कि आप बदल गए हैं। मुखौटे गिर गए हैं।

गुरु के सानिध्य के बाद आपकी स्थिति ठीक वैसी होती है जैसे बरसों बाद कॉमां कंडीशन में से कोई जागा हो और पिछली बातें भूल गया हो।

आप जब गुरु के चरण में समर्पित हो जाते हो तब गुरु ज्ञान के स्रोत के उपरांत आपका सर्वस्व बन जाते हैं। ऐसी ज्ञानात्मकता और



भावनात्मकता से पूरे पूरे जुड़ जाते ही आपका अतीत विसर्जित होने लगता है। अतीत के विसर्जित होने का अर्थ है पुराना मन, मन की साथ जुड़ी हुई बातें, इच्छाएं, रिश्ते नाते और योजनाएं सबका शून्य हो जाना।

गुरु के सानिध्य में ज्ञान तो सहज ही पनप रहा है। ऐसी स्थिति में ज्ञान पाने की इच्छा भी विसर्जित हो जाती है। आप आप नहीं रहते हैं। आपका पुर्नजन्म हो जाता है। घर परिवार सबकी आसक्ति नष्ट हो जाती है। भारत में एक बड़ी प्यारी प्रथा है। गुरु के आश्रम में आकर शिष्य बन जाने वाले सन्यासी का अतीत 'पूर्वाश्रम' नाम से जाना जाता है। उसके सारे पुराने सांसारिक रिश्ते नाते पूर्वाश्रम के नाते के नाम से जाने जाते हैं। इसका अर्थ है जो कुछ भी था वह था। वह सब अब था हो गया। अतीत बन गया। वर्तमान में एक ही नाते में सारे नाते समा गए हैं जो है गुरु शिष्य का नाता।

महाराज भर्तृहरि ने सन्यास ले लिया। सन्यास के बाद वे अपने राजमहल में भिक्षा लेने के लिए गए। उसने द्वार पर आकर अपनी पत्नी को कहा, 'मैया पिंगला! भिक्षा दे दे।' लोग भर्तृहरि को पागल समझेंगे कि यह कैसा पुरुष है? पत्नी को मैया कहकर बुला रहा है! परंतु वास्तव में लोग अबोध हैं। लोग अज्ञान में राचते हैं। पत्नी जब माता की गरिमा को प्राप्त कर ले तभी उसका पत्नीत्व सार्थक होता है। यह एक ज्ञान की अवस्था है।

हमारे उपनिषद् कहते हैं कि एक ऋषि एक सन्नारी को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि दश पुत्र वती भवः। और तेरा एकादशमां पुत्र तेरा पति बने। ये ज्ञान का परिणाम है। यह तभी घट सकता है कि या तो पति पत्नी दोनों का प्रेम की भूमिका द्वारा ज्ञान में प्रवेश हो जाए। अथवा पति के तीव्र त्याग की पराकाष्ठा में।

रामकृष्ण परमहंस ने त्रिपुर सुंदरी का व्रत करके अंत में व्रत पूर्ति का उत्सव मनाते वक्त एक कमरे में एक सुंदर आसन तैयार किया और पत्नी शारदामणी देवी को कहा कि आज आप सोलह सिंगार सजना। शारदा माता को भी आश्चर्य हुआ कि इस वैरागी को आज क्या हो गया है? लेकिन उसने सिंगार सजे। रामकृष्ण परमहंस ने आकर शारदादेवी को कहा कि जगदंबा के आह्वान के लिए मैंने जो आसन तैयार किया है उस पर आप विराजिए यह मेरी प्रार्थना है। शारदा देवी आसन पर विराजित हुई और परमहंस जी ने कहा, "साक्षात् त्रिपुर सुंदरी मेरे घर में है तो आकाश में से किसका आह्वान करूं" और ऐसा कहके बच्चे की भांति दंडवत करते हुए गिर पड़े शारदा देवी के चरणों में और कहा कि मुझे आशीर्वाद दीजिए। ये ज्ञान की पराकाष्ठा है।

या तो ज्ञान की पराकाष्ठा में ऐसा संभव है अथवा तो वितराग की पराकाष्ठा में। नर नारी दोनों में से एक में जब ज्ञान के शिखर पर पहुंच जाते हैं और दूसरा जब घाटी में पड़ा रहता है तब वितराग की अवस्था के किस्से घटते हैं।

लोग अज्ञान में राचते हैं। वे रिश्ते नाते को चिटके हुए हैं। संसार के नातों से ऊपर का भी एक नाता है, परंतु उसका उन्हें बोध ही नहीं। लोग न तो पत्नी को देवी समझ सकते हैं और न ही पत्नी। उससे छूटना तो बहुत लोग चाहते हैं परंतु सन्यास का साहस नहीं कर सकते हैं। ज्ञान हरेक प्रकार के बंधन से मुक्त कर देता है। ज्ञान में केवल पत्नी ही छूट जाती है ऐसा नहीं। वहाँ माँ-बाप, भाई-बहन सब रिश्ते पूर्वाश्रम बन जाता है।

महाभिनिष्क्रमण के कुछ वर्ष के बाद बुद्ध अपने घर भिक्षु के रूप में भिक्षा ग्रहण करने के लिए पहुंचे। उनके पिता महाराज शुद्धोधन ने कहा कि बेटा मैं अभी भी कह रहा हूँ कि ये सब पागलपन छोड़ दे, मैं तुझे माफ कर दूंगा। जो कुछ हो गया उसे भूल जा, तूने जल्दबाजी में घर भले छोड़ दिया लेकिन ये भिक्षु के कपड़े उतारकर फिर से राजकुमार की तरह जीने शुरू कर दे। तब बुद्ध ने कहा - 'महाराज आपकी गलती हो रही है। जो गौतम घर छोड़कर गया था, वह अब बचा ही नहीं। रंग रूप भले एक जैसे लगें परंतु आपके द्वार पर एक नया मनुष्य ही भिक्षा लेने आया है।'।

प्रिय साधको!

यह जवाब किसी व्यक्ति के मस्तिष्क से आया हुआ जवाब नहीं है। यह जवाब ज्ञान से आया हुआ है। ज्ञान बहुत कुछ निरर्थक और क्षणजीवी बातों को खत्म कर देता है। ज्ञान गुरु के माध्यम से प्राप्त होता है। गुरु आपको ज्ञान के द्वारा पुनर्जन्म देता है। गुरु आपको सिद्धांत सिखाने में नहीं पड़ते हैं। ना ही आपकी बुद्धि को पैनी करने का प्रयास करते हैं। वह तो आपकी अनावश्यक बातें और आदतों पर सीधा प्राहार करते हैं। मिटा देते हैं फालतू बातों को। कभी कभी गुरु वैद्य का काम करते हैं। वह कुछ सिखाते नहीं हैं, वह सीधे इलाज करते हैं। चिकित्सा कभी मरीज को पूछकर नहीं की जाता। चिकित्सा के लिए मरीज का वैद्य के पास पहुंचना और चिकित्सा करने में उत्सुक होना ही काफी है। सही वैद्य पथ्य कुपथ्य की बात कभी मरीज पर नहीं छोड़ते हैं। वह सीधा सूचन करते हैं। वह मरीज से नहीं पूछते हैं कि आपका ऑपरेशन कैसे करूं? वह अपने ढंग से आवश्यकता अनुसार सड़े हुए अंगों की काट पीट कर लेते हैं। हाँ, मरीज का सहयोग होना जरूरी है।



कभी कभी ऐसा भी लगता है कि गुरु का व्यवहार नकारात्मक है, गुरु कठोर है परंतु हकीकत में ऐसा होता नहीं है। आपकी नासमझी की वजह से ऐसा लगता है। वास्तव में वह कठोरता शिष्य को भीतर से स्वस्थ करने और रूपांतरित करने के लिए होती है।

न्याय शास्त्र में एक सिद्धांत कीट-पतंग नाम से जाना जाता है। यह बड़ी प्यारी बात है। भमरी कीड़े को रोज असंख्य बार डंक मारती है। देखने में क्रिया कठोर लगती है, परंतु उस डंक के परिणामरूप एक दिन अचानक कीड़े को पंख फूट निकलते हैं और रेंगता हुआ कीड़ा रूपांतरित होकर अचानक उड़ने लगता है। भमरी के डंक विधायक होते हैं। उसका हेतु रेंगते हुए कीड़े को पंख देने का होता है। भमरी बनाने का होता है।

सही गुरु भी शिष्य का गुरुता में प्रवेश करा देना चाहता है। उसकी कठोरता भी कल्याणकारी होती है।

प्रिय साधको !

मरना तो सबको है परंतु कीड़े की भांति मत मरो। आपके पंखों को निकलने दो। गुरु के सानिध्य में धैर्य और समर्पण से रहना सीख लो। जब ऐसा होगा तब उड़ना भी सीख लोगे। गुरु के सानिध्य में ज्ञान को उपलब्ध होकर आनंदित हो लो। फिर भले मरो परंतु तब आपका मरना भी सार्थक हो जाएगा।

गुर्जीएफ के बारे में मैंने सुना है। उसके पास हजारों शिष्य आए और चले गए। उसका तरीका कुछ अजब ढंग का था। वह तरीका ज्ञेन नीति से मिलता जुलता था। क्योंकि ज्ञेन गुरु भी सब शिष्यों के साथ एक सा व्यवहार नहीं करते थे। उनका शिष्य में ज्ञान जगाने ढंग आश्चर्यजनक होता है। वे कभी कभी बड़े नकारात्मक लगते हैं।

ज्ञेन गुरु कभी किसी शिष्य को चांटा मार देते हैं, कभी लट्ट लेकर पीछे पड़ते हैं, कभी भोजन की तैयार थाली शिष्य के पास से ले लेते हैं, कभी महीनों तक अपने से दूर रखते हैं। ज्ञेन कथाओं को नहीं समझने वालों को लगता है कि गुरु कठोर है। परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। वे शिष्य की प्रज्ञा का स्तर जानना चाहते हैं। उसके समर्पण को समझना चाहते हैं। शिष्य की प्रज्ञा को जगाने के लिए कभी कभी गुरु नकारात्मक प्रयोग करते हैं। प्रत्येक शिष्य के साथ उसकी व्यवहार नीति अलग अलग रहती है। नीतियाँ बदल बदलकर वे शिष्य के मनोजगत को टटोलते हैं। इसलिए इस पद्धति के लिए मैं ज्ञेननीति शब्द प्रयोग कर रही हूँ। बाद में नीति छूट जाती है। ज्ञान प्रगट हो जाता है।

गुर्जीएफ शिष्यों के साथ में अजीबोगरीब ढंग से पेश आते थे। खोखले शिष्य भाग जाते थे। सच्चे गुरु ऐसा ही करते हैं। उन्हें भीड़ का मोह नहीं होता। वे तो समर्पण चाहते हैं। जिस समर्पण से वह आपको शिष्य में से गुरु की अवस्था तक पहुँचा दे। जिसकी जागने की तैयारी हो ऐसे लोग ही टिक सकते थे गुर्जीएफ के पास।

यूस्पैन्स्की नाम का एक शिष्य गुर्जीएफ के अंतर को भांप गया था। उसने नहीं छोड़ा गुर्जीएफ को। तब गुर्जीएफ ने उसका धैर्य, गुरु प्रेम, समग्रता तथा समर्पण की कसौटी करने के लिए कहा कि जा तू एक मकान बना। उसने शिष्य को मकान का नक्शा दे दिया। यूस्पैन्स्की ने खूब मेहनत करके मकान बनाया, गुरु देखने के लिए आए। यूस्पैन्स्की को था कि गुरु खुश हो जाएंगे। लेकिन गुर्जीएफ ने कहा कि काम ठीक नहीं है। इसे गिरा दे और फिर से बना दे। साधारण शिष्य होता तो सोचता कि यह कैसी सजा है? बनाना – तोड़ना – फिर से बनाना! लेकिन यूस्पैन्स्की कोई साधारण शिष्य नहीं था। उसने मकान फिर से बनाया। फिर से गुर्जीएफ ने कहा काम ठीक नहीं है। तोड़कर फिर से बनाओ। ऐसा सात बार हुआ। और आठवीं बार गुर्जीएफ ने कहा – अब बराबर है। सातों बार काम सही ही था परंतु कभी कभी शिष्य को लगता है कि गुरु उसे निरर्थक बातों में व्यस्त रखते हैं। परंतु वह निरर्थकता उसके भीतर एक सार्थकता को जन्म देती जाती है। जिसका शिष्य को बाद में पता चलता है।

यूस्पैन्स्की के काफी वर्ष बिगड़े उस तोड़ने-बनाने में परंतु वह न भागा, न हारा। उसका समर्पण सच्चा था, संपूर्ण था और यूस्पैन्स्की एक मात्र ऐसा शिष्य हुआ कि आज गुर्जीएफ उसके गुरु के नाम से जाने जाते हैं।

पूरी दुनियां बोलती है कि ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या। लोग कहते हैं कि जगत माया है। वे ऐसे बोलते हैं कि जैसे उन्होंने इस सत्य को जान लिया परंतु मैं कहती हूँ कि सत्य जानने का विषय नहीं है, सत्य जीने का विषय है। जानते तो सब हैं परंतु माया से ऊपर नहीं उठ सकते हैं। क्योंकि वे सत्य में जीना नहीं चाहते हैं। जिसने ज्ञाननिष्ठ गुरु को पा लिया उसने सत्य को पा लिया। गुरु सत्य का दर्शन करा देते हैं। थोड़ी देर पहले ही मैंने कहा कि गुरु वैद्य हैं, वे अज्ञान का इलाज करते हैं। जरूरत पड़े शैल्य चिकित्सा भी करते हैं और वह भी एनेस्थीसिया दिए बिना। पीड़ा तो होगी परंतु वह पीड़ा कल्याणकारी है।

भारत में गुजरात के कच्छ प्रांत में जेसल नामक एक क्षत्रिय लुटेरा था। संयोग से वह सौराष्ट्र की एक प्रबुद्ध नारी के संपर्क में आया। उसका नाम था सती तोरल। वह एक अद्भुत नारी थी। एक खूंखार, बेरहम, कातिल लुटेरा सती तोरल को समर्पित हो गया। तोरल सौराष्ट्र

छोड़कर जेसल के कल्याण के लिए जेसल के साथ कच्छ पहुंची। वह एक निडर और आशावादी सन्नारी थी। शिष्य जब समर्पित होता है तब गुरु का समर्पण भी सहज ही घटित हो जाता है।

लोग जिसके नाम से डरते थे, ऐसा हिंसक आदमी तोरल के सानिध्य में आकर एक आज्ञांकित बच्चे जैसा बन गया। कभी कभी विश्व के कल्याण के लिए गुरु खुद को जोखिम में डाल देते हैं और असुर जैसे मनुष्य में भी हकारात्मक होने की संभावना देखकर किसी भी प्रकार की चुनौति उठा लेते हैं।

तोरल के सानिध्य में जेसल की मार, धाड़, लूट, हिंसा तो छूट गई, नकारात्मकता चली गई, आसुरीपन गया, परंतु हकार में प्रवेश कैसे करे यह एक बड़ा प्रश्न था। गलत को छोड़ दिया परंतु सही की ओर आगे कैसे बढ़े? ज्यादातर लोग इधर आकर अटक जाते हैं। इस स्थिति में गुरु अनिवार्य हो जाते हैं। और शिष्य का संपूर्ण आज्ञांकित होना भी अनिवार्य है। गुरु नकारात्मक दिशा में बहती ऊर्जा को सही मार्ग और गति देते हैं। उसका तरीका कोई भी हो सकता है। तोरल ने जेसल को सेवाकार्य में लगा दिया। संतों को भोजन कराना, बर्तन मांजना, घर के मैले कपड़े लेकर तालाब पर धोने जाना। भारत के पुरुष के लिए ये सब कार्य एक नारीगुरु की आज्ञा में रहकर करना बहुत मुश्किल हो जाता है। जेसल जब कपड़े लेकर तालाब पर धोने जाता था तब नारियाँ जेसल को गालियाँ देने लगी, मारने लगीं। इतिहास कहता है कि जेसल की नकारात्मकता इतनी भयानक थी कि तालाब का पानी उसके छूते ही सूख गया था। इतने नकार को हकार में परिवर्तित करना कोई खेल नहीं होता। इसके लिए गुरु का भी पूरा पूरा समर्पण चाहिए। जेसल को एक अति से दूसरी अति तक पहुंचाने का मामला था। असुर में से मानव बनाना यह आधी यात्रा है परंतु असुर में से किसी को देवत्व में प्रवेश करा देना कोई सिद्ध गुरु ही कर सकता है।

कोई सिद्ध गुरु जब शिष्य के समर्पण की वजह से उसका कल्याण करना ठान लेते हैं तब स्वयं भी समर्पित और सम्मिलित हो जाते हैं सत्य के अभियान के लिए। ऐसी स्थिति में कभी कभी गुरु को भी संघर्ष का समना करना पड़ता है। गुरु आत्मनिष्ठ होते हैं परंतु लोग मूढ़ होते हैं। जब कोई रूपांतरित हो रहा हो तब समाज सहयोग नहीं करता, मौका देखकर बदला लेता है। ऐसी स्थिति में रूपांतरित होते साधक का फिर से नकार में गिरने की संभावना बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में गुरु का प्रेम ही संभाल सकता है।

सच्चे गुरु हजारों मूढ़ लोग क्या कहते हैं उसकी चिंता नहीं करते हैं परंतु शरण में आए हुए एक शिष्य के रूपांतरण के लिए सजग होते हैं।

लोग तोरल और जेसल के रिश्ते के बारे में अनाप शनाप बोलने लगे थे। जेसल को क्रोध भी बहुत आता था परंतु उसकी गुरु का आदेश था कि कुछ भी हो जाए क्रोध नहीं करना है। क्रोध आए तो क्रोध को देखते रहना, लोग मारें तो मार खा लेना लेकिन सामना नहीं करना है। जेसल के लिए यह बड़ा कठिन निर्णय था परंतु ज़िंदगीभर दूसरों पर धाक जमाने वाला जिसके नाम से लोग कांपते थे, ऐसा आदमी एक सालस मनुष्य की तरह बाजार में निकले और गाली सुननी पड़े यह बात उसके लिए असह्य बन गई थी। परंतु तोरल की आज्ञा थी कि क्रोध को विसर्जित करने का एक ही रास्ता है और वह है सेवा। धीरे धीरे जेसल रूपांतरित हो गया। लुटेरे में से इंसान और इंसान में से पीर बन गया। आज भी कच्छ के अंजार शहर में तोरल के साथ जेसल की समाधी भी पूजी जाती है।

मैं कहना यह चाहती हूँ कि ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्य का सही सही बोध तो सद्गुरु के सानिध्य में रहकर ज्ञानोपलब्धि के द्वारा ही घटित होता है। मिथ्या का अर्थ यह नहीं कि केवल दुःख ही मिथ्या है। मिथ्या का अर्थ है सुख भी मिथ्या है। सुख दुख दोनों आभासी हैं। सुख दुख दोनों का अस्तित्व ही जगत का सत्य है और इस बात को जिसने जान लिया, स्वीकार कर लिया और दोनों का जश्न मनाया वे हैं ज्ञानी। परंतु उसके लिए दृष्टि चाहिए। जो ऐसी दृष्टि देता है, वह है गुरु।

जगत माया है – ऐसा बोलने वाले, जानने पर भी अंजान क्यों हैं? मैं कहती हूँ कि अगर जगत माया ही है, मिथ्या ही है तो चिंता क्यों? जो लुटना है वो भले लुट जाए! जो टूटना है वो भले टूट जाए! दुनियाँ डूबती है तो भले डूबे! जगत मिथ्या है तो जगत में रहने वाले भी मिथ्या हैं। मिथ्या के मरने की चिंता कैसी? परंतु आप ऐसे नहीं जी सकते। सुख दुख को आप इतनी आसानी से नहीं ले सकते। क्योंकि आप केवल सुनी हुई बातों को दोहराते हो। आपके पास कोई वास्तविक बोध नहीं है। इसलिए बुद्धि से सीखी बातें, कानों से सुनी और स्मृति से रटी बातें आपको सुख दुख की क्षणों में स्थिरता नहीं दे सकती। माया में स्थिर रहने के लिए स्पष्ट दृष्टि और भीतर की स्थिरता चाहिए। स्थिर रहने का अर्थ है – माया के पक्ष में भी नहीं और उसके विरोध में भी नहीं।

प्यारे साधको!

सुने हुए सत्य और अनुभूत सत्य में बड़ा फर्क होता है। ज्यादातर लोग सुने हुए सत्यों को बकते रहते हैं। परंतु वह हास्यास्पद लगता है। सुना हुआ सत्य स्वप्न से नहीं जगा सकता। सच्चे गुरु आपको मिथ्या स्वप्नों में नहीं राचने देते। जो गुरु आपको धन के और भगवान के

सपने दिखाए उसे ढोंगी गुरु समझ लेना। गुरु तो सीधा वास्तविकता का बोध कराते हैं।

जीवन एक स्वप्न है। गुरु आपको जगाकर स्वप्नों के पार का जीवन देते हैं। खुली आंख से जो जो सुखद स्वप्न दिखते हैं उसको भी और भोगे हुए दुःखद स्वप्नों को भी गुरु तोड़ देते हैं। वे सुख के स्वप्न भी आपको नहीं देखने देते। गुरु को आपका स्वप्न जगत मान्य ही नहीं होता। सुखद हो या दुःखद स्वप्न तो स्वप्न है। गुरु हमेशा हमेशा के लिए भ्रम से जगा देते हैं। सुख देने वाला स्वप्न जब टूटता है तो घड़ीभर नींद में से जगाने वाले पर गुस्सा भी आता है। परंतु पूरे पूरे जाग जाने के बाद एक सत्य समझ में आ जाता है कि जिसे मैंने सुख मान लिया था वह आखिर स्वप्न था।

जागा हुआ किसे कहेंगे? मानो कि आपको एक स्वप्न आया, स्वप्न में आपका एक सुंदर लड़की से आपका संवाद चल रहा था, किसी ने आपको अचानक जगा दिया। फिर भी आप बार बार उस लड़की के बारे में बात करते रहो या कहो कि मुझे उस लड़की को पाना है तो समझ लेना कि आप अभी भी नींद में हैं। क्योंकि स्वप्न मिथ्या है। स्वप्न में देखी हुई चीजें भी मिथ्या हैं। और उस मिथ्या को पाने की इच्छा करना भी मिथ्या है। इच्छा करने वाला भी मिथ्या है। मिथ्या को कोई पा नहीं सकता। और अगर पा भी लिया तो समझना कि वह भी एक स्वप्न है। क्योंकि मिथ्या को हमेशा के लिए अपना बनाने के लिए कोई उपाय नहीं है। और संसार में सबकुछ मिथ्या है। संसार में कोई कभी भी कायम के लिए किसीका नहीं बन सकता। फिर भी मन में हमेशा कुछ न कुछ पाने की तमन्ना का उठना ही माया है। गुरु उस माया के बंधन को काट देते हैं। या काटने का उपाय बताते हैं।

कृष्ण गोपाल में से योगेश्वर बने इसमें उसके गुरु सांदीपनी का बहुत बड़ा हाथ है। योगेश्वर बनने का अर्थ है एक यादव संतान का या वासुदेव का रूपांतर हो जाना। क्या सांदीपनी नहीं जानते थे कि कृष्ण एक राजकुमार है? उसका लालन पालन भी नंदराजा के घर में बड़े लाड़ प्यार से हुआ है? फिर भी क्यों भेजते थे कृष्ण को जंगल में लकड़ी काटने के लिए? अगर सांदीपनी चाहते तो वे एक राजकुमार के रूप में कृष्ण को महत्व देकर उसे केवल बौद्धिक और शास्त्रीय ज्ञान देकर उसके पिता को खुश करके ज्यादा धन प्राप्त कर सकते थे। जिसे आज के विद्यालयों की भाषा में डोनेशन कहते हैं।

कम पात्रता वाले को विशेष रूप से विद्यालय और विश्वविद्यालय में प्रवेश देने के तरीके को डोनेशन कहा जाता है। मेरी दृष्टि से अवेद्य प्रवेश है, यह एक भ्रष्ट प्रवेश है। परंतु आज सबकुछ चलता है। क्योंकि वहाँ गुरु नहीं बैठे हैं, वहाँ शिक्षक बैठे हैं और जिस पर ट्रस्ट नहीं रख सकें ऐसा ट्रस्टी मंडल बैठा हुआ होता है? सांदीपनी एक जागा हुआ ब्राह्मण था। उसका ज्ञान में प्रवेश हो गया था। कृष्ण जैसे शिष्यों की खोज किस गुरु को नहीं होता। परंतु सांदीपनी ने दुनियां की कठोर वास्तविकताओं से कृष्ण को कभी दूर रखने की कोशिश नहीं की। उसके पास लकड़ी भी कटवाई, बरतन भी मंजवाए। उसके समर्पण को विकसित होने का माहौल दिया और ज्ञान को भी उपलब्ध करा दिया।

आपको प्रश्न उठ सकता है कि क्या प्रमाण है कि सांदीपनी एक जागा हुआ गुरु था? तो सबसे पहली बात तो यह याद रखिए कि जो जागा हुआ है वही गुरु है। बाकी लोग और कुछ हो सकते हैं, तथाकथित गुरु बन जाते हैं परंतु वास्तविक गुरु नहीं हो सकते। दूसरी बात यह कि सांदीपनी ने कृष्ण में पड़ी हुई संभावनाएं जान ली थीं। कृष्ण एक संगीतकार थे, एक किशोर योद्धा थे, एक उत्तम चंद्रवंशीय क्षत्रिय थे, एक बौद्धिक बालक थे, और परम प्रेम रूप भी थे। कृष्ण का प्रकृति प्रेम असाधारण था और उसका हृदय निरासक्त भाव से भरा हुआ था। ये सारी क्षमताएं उन्हें योगेश्वरत्व में प्रवेश करने के लिए मदद कर सकती थीं। कृष्ण के पास लौकिक ऐश्वर्य तो था परंतु उसे जीवन के हर पहलू से अवगत कराने के लिए सांदीपनी ने अपने आश्रम में उन्हें साधारण शिष्य की भांति ही रखा। सांदीपनी को पता था कि कृष्ण एक ऐसी चेतना है कि पूरा अस्तित्व उसकी मदद करता है। और बचपन से कृष्ण सफलता प्राप्त करता आ रहा है। परंतु उसके गुरु ने उसके अहंकार को कभी नहीं पोषा। उसे आश्रम को धोना बुहारना भी सिखाया और चूल्हे के लिए लकड़ी काटने को भी भेजा। गुरु ने उसे ध्यान में भी बिठाया और शास्त्राध्ययन भी कराया। गुरु ने अपने पैर भी दबवाए और योग भी सिखाया। और जब कृष्ण की सारी संभावनाएं खिल उठी और गुरु को कृष्ण में योगेश्वर का दर्शन हो गया तब विदा दे दी। परंतु उनसे किसी भी प्रकार की दक्षिणा नहीं चाही। गुरु पत्नी ने योगेश्वर के योगबल से अपने मरे हुए पुत्र को याच लिया परंतु गुरु ने कुछ नहीं चाहा। यह सबसे बड़ा प्रमाण है जागे हुए गुरु का।

कभी कभी ऐसा होता है कि गुरु का प्रेम और कृपा शिष्य पर इतने बरसते हैं कि शिष्य विकसित होता होता गुरु से भी आगे निकल जाता है। और समाज में प्रिय भी हो जाता है। बुद्ध के इक्कीस में से एक भी गुरु का नाम आम लोग नहीं जानते हैं। महावीर के गुरु के बारे में लोग अज्ञान हैं। राम और कृष्ण के पढ़ने को भी लोगों ने लीला ही मान लिया, क्यों? क्योंकि उन्होंने जीवन और अध्यात्म के उन शिखरों को छू लिया कि जहाँ वे समाज के लिए भगवान बन गए। फिर लोगों के लिए उनके गुरु गौण बन गए। वे लोग इतने प्रेमपूर्ण और अद्भुत थे कि लोगों को उनमें ही रस रहा, उनके गुरु कौन थे उसमें नहीं। अपनी साधना में वे इतने आगे निकल गए कि वे गुरुओं के गुरु बन गए। कृष्ण को तो



जगद्गुरु कह दिया। भारत में कहा जाता है -

कृष्णं वंदे जगद्गुरुम्

परंतु यह कैसे हुआ, क्यों हुआ ? यह समझना बहुत जरूरी है। परंतु लोग भगवान पर पूर्णविराम रख देते हैं। वे मानते हैं कि भगवान सबसे बड़े हैं।

मैं कहती हूँ कि जिसमें भगवद्ता प्रगट हो गई वह भगवान। परंतु उस भगवद्ता की ज्योत कैसे जली ? किस दिए ने उस ज्योति की बाती को संभाला ? किसने उसमें ईंधन भरा ? किसने ज्योति को प्रगटाया ? - इन सबका एक ही जवाब है, गुरु।

बुद्ध ने भले कहा -

अप्पदीपोभव

- तू तेरा दिया बन। इसका अर्थ है तू खुद को प्रकाश दे, खुद का मार्ग खुद की अंतरदृष्टि के प्रकाश में पहचान ले। लेकिन इस आवाज के उठने में भी कई गुरु निमित्त बने थे। कई प्रेरणा स्रोतों से थोड़े थोड़े जागते जाने के बाद स्वयं प्रकाश बनने की सजगता आई थी।

मैं कहती हूँ कि आप भले आत्मगुरु बनो। ऐसा होना भी संभव है। जिसे जैन शास्त्र स्वयंसिद्ध कहते हैं परंतु इसके लिए भी आपको समर्पित तो होना पड़ेगा। आपके मन में प्रश्न उठेगा कि कोई गुरु ही नहीं है तो कहाँ समर्पण करें ?

मैं कहती हूँ कि जब आपमें आत्मगुरु बनने की क्षमता है तो स्वयं को समर्पित हो जाओ। आप कहेंगे कि स्वयं को समर्पित कैसे होंगे। मैं कहती हूँ अपनी शक्तियों को पहचानकर अपनी सारी ऊर्जा उसके प्रति मोड़े दो। आत्मचेतना को समर्पित हो जाओ। आत्मदृष्टि की आज्ञा में रहना शुरू कर दो। ऐसी स्थिति में विशेष समर्पण की जरूरत रहती है। विद्या वाचस्पति स्वयं को समर्पित थे। वे जब शास्त्र रचना कर रहे थे तब बारह साल तक उसने एक ही छत के नीचे रहते हुए भी अपनी पत्नी का स्मरण नहीं किया था। अध्ययन ही उसकी साधना बन गई थी, अध्ययन ही उसका गुरु बन गया था। और अध्ययन ही ध्यान।

आप जब किसी गुरु को समर्पित हो जाते हो तब आप निर्भय हो। गुरु आपके रक्षक हैं, वे प्रहरी हैं, वे आपको जगाते रहेंगे। परंतु जब कोई गुरु नहीं है और आप स्वयं चल पड़ते हो एक अंजान रास्ते पर तब स्वयं के संकल्प शक्ति को समर्पित होकर आपको आगे बढ़ना पड़ेगा और हर कदम सजग रहना पड़ेगा। जब कोई जगाने वाला या रोकटोक करने वाला न हो तब अकस्मात की संभावना बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में विशेष सजगता की आवश्यकता रहती है।

आप जब किसी गुरु के चरण में समर्पित हो जाते हो तब आपका कार्य पूरा हो जाता है और वहाँ से गुरु का कार्य शुरू होता है। मेरी दृष्टि से तो गुरु को समर्पित होकर आप मुक्त हो जाते हो और गुरु बंधते हैं। यह एक आध्यात्मिक बंधन है। बंधनों के पार का बंधन है। संसार के सारे रिश्ते मिथ्या हैं। परंतु गुरु शिष्य का नाता एक शाश्वत नाता है। शिष्य जब पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है तब वहाँ शिष्य रहता ही नहीं गुरु रहते हैं। क्योंकि शिष्य की कोई सत्ता और इच्छा ही नहीं रही। आकृति तो गौण है। हकीकत में मनुष्य शरीर में नहीं, इच्छाओं में जीता है। जब शिष्य सबकुछ छोड़छाड़कर समर्पित हो जाता है तब गुरु और शिष्य के बीच में अद्वैत स्थापित होता है। दो शरीर रहते हुए भी मन दो नहीं रहते। शिष्य के मन, बुद्धि और अहंकार सबकुछ गुरु को अर्पित हो जाता है। इसीलिए तो तन, मन और धन से की हुई सेवा को प्रत्येक धर्म ने सराहा है। अपना धन गुरु को इसलिए अर्पित कर देना होता है कि शिष्य का अहंकार अपने धन पर खड़ा न रह जाए। अहंकार हमेशा ज्ञान से दूर रहता है। तन, मन और धन से समर्पित होने में भारत विश्व सबसे आगे है।

सम्राट अशोक हो या राजा हरीशचंद्र, वे गुरु को तन, मन और धन से समर्पित होकर एक ऐसे विश्व में पहुंच जाते हैं कि जहाँ उसके लिए सुख-दुःख समान बन जाते हैं। जहाँ जीवन और मृत्यु दोनों महिमावान हैं। अमीरी और फकीरी में वे समदृष्टा हैं। हरीशचंद्र जैसे शिष्यों को धन का अभाव कंगाल नहीं बना सकता।

गुरु कठोर भी होते हैं और करुणापूर्ण भी। मिट्टी काम करते हुए कुम्हार को आपने कभी देखा है ? उसके हाथ में लकड़ी का एक छोटा सा साधन और दूसरे हाथ में मिट्टी का गोला। एक हाथ से वह गोले को संभालते जाता है और दूसरे हाथ से लकड़ी के साधन से ऊपर से बार बार चोट पहुँचाते जाते हैं। देखने वाले को लगता है कि मिट्टी के गोले को फटकारता है परंतु हकीकत में वह चोट मिट्टी के गोले को आकार देती है। दूसरे हाथ से कुम्हार मिट्टी के गोले को चोट सहन करने के लिए नीचे से सहारा भी देता है। इस तरह दो विपरीत क्रिया मिलकर मिट्टी में प्राण फूंक देती है। मिट्टी आकार लेती है; किसी बरतन का या विशेष उपकरण का। ऐसी प्रक्रिया से मिट्टी उपयोगी बन जाती है। जब तक मिट्टी कुम्हार के हाथ नहीं लगी थी तब तक केवल मिट्टी थी। कुम्हार का स्पर्श पाकर चोट खाकर भी मिट्टी सुंदर बन गई, कलात्मक बन गई, पात्र बन गई। बस, गुरु की इतनी ही भूमिका है।



गुरु आपको ज्ञान के लिए पात्र बनाता है। सच्चा गुरु आपको कभी बौद्धिक सामग्री इकट्ठी करने को नहीं कहता। बौद्धिक बातों को ऊपरी चीज हैं। शास्त्र रटना और शास्त्र में जीना दोनों में फर्क है। सही गुरु रटना नहीं सिखाता, वह जीना सिखा देता है। साधारण जन के लिए ये बातें समझना कठिन होंगी। किसी भी चीज को रटना कोई खास कठिन नहीं है। वह केवल मस्तिष्क की कसरत है। एक शैतान भी कुरान रट लेता है और रावण भी वेद कंठस्थ कर लेता है। परंतु इससे क्या ? सही गुरु तो आपको नींद से जगाता है। ऐसे गुरु बौद्धिक ज्ञान के नहीं सत्य ज्ञान के हिमायती होते हैं।

परंतु मनुष्य का दुर्भाग्य है कि सबकुछ जानने के बाद भी समर्पण नहीं कर सकता। क्यों ? क्योंकि मन और मस्तिष्क खलल पहुंचाता रहता है। मन हमेशा आसान बातों को ढूंढता है और मस्तिष्क तर्कबुद्धि और अहंकार की वजह से झुक नहीं सकता।

मैं कहती हूँ कि गुरु को समर्पित होना ही कठिन है फिर कोई खास तकलीफ नहीं है। गुरु को धन दे देना अथवा शारीरिक रूप से सेवा में लग जाना भी कठिन नहीं है। ये तो भारत के गुरुओं ने हमारे रक्त में उतार दिया है। भारत की परंपराओं में माता पिता भी बच्चे के मन को इस तरह संस्कारित करते हुए कहते हैं कि संत और गुरु के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। ऐसा क्यों ? क्योंकि अर्पण यह समर्पण की प्रथम सीढ़ी है। भाव और हकार के साथ किसीको कुछ देना यह बहुत बड़ी बात होती है।

भारत के मनीषियों ने मनुष्य को अच्छे ढंग से कुछ न कुछ देना सिखाया है। यह एक अच्छी परंपरा है। भारत के संतो ने स्वयं को सेवा क्षेत्र को समर्पित करके मनुष्य को सेवा करने के लिए प्रेरित किया है। हमारे राजा महाराजा भी आश्रमों में जाकर सेवा करते थे।

पुराणों में वर्णित इतिहास को पढ़ना। रघुवंशी महाराज दिलीप वशिष्ठ के आश्रम में जा कर नंदिनी गाय की सेवा करते हैं। अपनी रत्नजड़ित पादुका आश्रम से सौ कदम दूर उतारकर आश्रम में प्रवेश करते थे। इसका कारण क्या था ? क्योंकि वे जान गए थे कि ज्ञान का एकमात्र स्रोत है, गुरु। वे लोग आश्रम की साफसफाई करते थे। उस सेवा के बदले में उन्हें जो आध्यात्मिक फायदा होता था वह धन, पद या प्रतिष्ठा से नहीं मिल सकता।

मैंने अनुभव किया है कि सेवा से सबकुछ हो सकता है। गुरु नानक से उतरा सिख सम्प्रदाय में जो लंगर की परंपरा है इसका मूलभूत कारण अध्यात्म का आकर्षण ही है। बाद में यह बात धार्मिक मानसिकता के साथ जुड़ गई यह बात अलग है। परंतु मूल में तो मनुष्य को सेवा-समर्पण के मंत्र सिखाने का यह एक ऊमदा प्रयास था। कभी कभी धनपतियों को छोटे आदमी की शर्म आती है परंतु लंगर में गरीब तवंगर का भेद मिट जाता है। वहाँ मैंने धनकुबेरों को यात्रियों के जूते भी साफ करते हुए देखे हैं और झूठे बर्तन मांजते हुए भी। यह क्या है ? मेरी दृष्टि से तो यह समर्पण ध्यान है। मनुष्य को अहंकार को समर्पित होने के लिए लंगर स्थान देता है, जगह बनाता है, मौका देता है। धन, पद, मान-पान और प्रतिष्ठा से भरा मन जब सेवा में लगता है तब क्षण भर के लिए अहंकार विसर्जित हो जाता है। ओढ़ा हुआ सारा बोझ अदृश्य हो जाता है। अहंकार के गिरते ही मनोतनाव खो जाता है। और उस क्षण में सेवा में सक्रिय होने पर भी साधक अमनी अवस्था का अनुभव करता है। क्योंकि वहाँ दुनियाँ से पाया हुआ या थोपा हुआ कोई भार नहीं रहता। ऐसे क्षणों में शरीर सेवा कार्यों में व्यस्त होता है। मन सेवा से प्रसन्न होकर शांत हो जाता है। और “मैं” के खो जाने से घटित होता क्षणिक समर्पण भी साधक को एक अलग विश्व में ले जाता है। वह ध्यान का विश्व है। इस अवस्था के वर्णन के लिए शब्द छोटे पड़ जाते हैं। परंतु मैं कहूँगी कि वह अवस्था निःशंक समर्पण ध्यान में स्थिर होने की अवस्था है कि जहाँ दुनियाँ की शर्म, छोटे बड़े का भेद, अहंकार और हृदय के बीच का संघर्ष सबकुछ मिट जाता है और उस क्षण में ध्यान सम्पन्न हो जाता है।

मैं एक बार फिर से कहती हूँ कि धन से और शरीर से सेवा करना आसान है परंतु गुरु को मन सौंपना बड़ा कठिन है। मन को भी जब कोई समर्पित कर देता है तब वहाँ पूर्ण समर्पण घटित होता है। शरीर से जब कोई सेवा कर रहा हो तब देखने में वह एक शारीरिक कार्य लगता है परंतु वास्तव में उसका संबंध मनुष्य के मन से है। जो अपना मन सेवा के लिए समर्पित कर देता है वही सेवा कर सकता है। जो सेवा को ध्यान बना देता है वही सच्ची सेवा कर सकता है। जो सेवा को आनंद मानता है वही सेवा कर सकता है। दिखावा करने वाले तो बहुत जल्दी भाग जाते हैं। दंभी लोग जल्दी पकड़े जाते हैं। इसका कारण है, आप सेवा को सेवा ही बना सकते हैं, उसे ढोंग नहीं बना सकते हैं। सेवा ढोंग को ओढ़ नहीं सकती। ढोंग सेवा का मुखौटा पहनने की कोशिश भी करे तो वह जल्दी खुला पड़ जाता है।

फिर भी ध्यान रहे कि सेवा संस्कार का विषय है, भाव का विषय है, आनंद का विषय है स्वेच्छा का विषय है परंतु एकांगी है। समर्पण सर्वांगी होता है। सेवा पार्ट टाइम बन सकती है। समर्पण में पार्ट टाइम समर्पण की कोई गुंजाइश नहीं है। वह होता है या नहीं होता। जो होता है तो पूरा पूरा होता है, नहीं होता तो बिल्कुल नहीं होता। उसमें ‘फिफ्टी’ ‘फिफ्टी’ की कोई गुंजाइश नहीं है। आधे अधूरे समर्पण को और कुछ भी कह लो परंतु समर्पण मत कहना। समर्पण तो प्रेम की उच्चतम अवस्था है। सेवा और समर्पण का भेद जरा ध्यान से समझ लेना। सेवा में आपका मन थोड़ी देर के लिए सेवा कार्य को समर्पित होता है। जबकि समर्पण में सबकुछ समर्पित हो जाता है। वहाँ आपकी गैर मौजूदगी होती

है और सिर्फ समर्पण ही बचता है। मन को थोड़ा सुकून मिले इसलिए आदमी किसीकी सेवा करता है। समर्पण में तो मन को मार देना है। वहाँ मन होता ही नहीं है। क्योंकि आप कुछ शरीर हो, कुछ मन हो, कुछ मस्तिष्क हो और कुछ आत्मा हो। समर्पण आत्मा से होता है। एक बार समर्पित हो जाने के बाद मन, मस्तिष्क, शरीर और आत्मा पर आपका कोई अधिकार नहीं होता। ये किसी दूसरे के हो जाते हैं। परंतु ऐसा समर्पण लाखों में एकाध प्रेमी, भक्त या शिष्य कर सकता है। ज्यादातर लोग थोड़ी बहुत सेवा करके खुश हो लेते हैं।

सेवाभाव बहुत अच्छी चीज़ है। किसीकी सेवा करना गलत नहीं है। अगर किसी भी प्रकार के गणित के बिना सेवा हो रही है, फल के लालच के बिना सेवा हो रही है, किसीकी सेवा करने से आपको सुकून मिलता है या अच्छा लगता है इसलिए सेवा कर रहे हैं तो जिसकी सेवा कर रहे हो उसे धन्यवाद देना। क्योंकि उसने आपको खुश होने का मौका दिया। आपकी सेवा का स्वीकार करके शुभ कार्य का संतोष प्राप्त करने का मौका दिया।

समर्पण में अहंकार बिल्कुल झुक जाता है और धीरे धीरे विसर्जित हो जाता है। सेवा में भी अहंकार झुकता है परंतु वह झुकना पार्श्वल होता है। वह अपनी अनुकूलता के अनुसार झुकता है। सेवाकार्य में आपका अहंकार जब झुकता है तब वह आपकी खुशी के लिए ही झुकता है। वह झुकना क्षणिक है। वह झुकना खुशी के लिए है। सेवा में थोड़ी देर के लिए आदमी अहंकार को उतारकर साइड में रख देता है। सेवा से जब मन भर जाता है तब फिर से अहंकार को चढ़ा लेता है अपने सर पर। वहाँ सेवा भी मन के लिए होती है, मन के पार जाने के लिए नहीं। वहाँ आपने आपके लिए अहंकार उतारा था किसी दूसरे के लिए नहीं। और ना ज्ञान के लिए, या सत्य के लिए। परंतु समर्पण में अहंकार हमेशा हमेशा के लिए झुककर घोषणा कर देता है कि “सत्यानुभव के लिए मैं स्वयं को विसर्जित कर रहा हूँ।”

मेरा कहना है कि जिंदा आदमी ही इस तरह से झुक सकता है। अहंकारी मनुष्य तो अपने अहंकार से ही मरा हुआ है। वह कैसे झुक पाएगा ?

झुकता वही है जिसमें जान होती है।

अकड़ तो मुर्दे की पहचान होती है।।

प्यारे साधको !

सर का झुकना यह सही झुकना नहीं है। अहंकार का झुक जाना यही सही झुकना है। सर को झुकाना अहंकार को झुकाने की घोषणा है जो एक शारीरिक क्रिया के द्वारा प्रगट होती है। भारतीय ऋषियों ने काफी सजगता से कुछ सामाजिक अनुशासन और नियम दिए हैं।

मातृ देवो भवः, पितृ देवो भवः, आचार्य देवो भवः

– इन शास्त्र वचनों का अर्थ क्या है ? देव का अर्थ है जो आपसे ऊपर है, विकसित है, दिव्य है, जो आपसे आगे है। भारतीय ऋषि कहते हैं कि जो आपसे आगे है उनके चरणों में झुक जाओ। अर्थात् वहाँ अहं मुक्त हो जाओ। और विकसित आत्मा से कुछ प्राप्त कर लो।

एक जमाने में माता पिता और आचार्य वास्तव में अपनी संतान से और अपने शिष्यों से आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत आगे थे। कुछ हद तक आज भी हैं। उनके अनुभव तो सत्य में से ही आए हैं। अनुभव लौकिक हों या अलौकिक परंतु सत्य में आपसे जरूर आगे हैं।

परंतु परम सत्य को जानने वालों का प्रमाण कम हो गया है। लौकिक सत्य आध्यात्मिक विकास में ज्यादा मदद नहीं कर सकते। संतान अथवा शिष्यों को जब माता पिता या आचार्य में परम सत्य की झलक नहीं मिलती तब उसका झुकना औपचारिक बन जाता है। आप ऐसा ही झुकते हैं। आपके झुकने में केवल सर झुकता है, अहंकार नहीं। कुछ विशेष साधको को छोड़कर बात करें तो आपका झुकना एक शारीरिक क्रिया मात्र है, वह वंदन नहीं है। आप केवल वंदन की मुद्रा बनाते हैं, उस वंदन में कहीं आत्मा नहीं है। ऐसा वंदन ज्यादा से ज्यादा सभ्यता, एक शिष्टाचार अथवा एक परंपरा का निर्वाह बन सकता है। परंतु उसमें दूर दूर तक समर्पण की सुवास या संभावना नहीं दिखती।

आपके परिवारों के बहु बेटों का झुकना शेयरबाजार जैसा है। समय समय पर मतलब के हिसाब से उसके सर का ग्राफ ऊपर और नीचे की ओर आता जाता रहता है। ऐसे अस्थायी वंदन अथवा शाब्दिक प्रणाम मन को ठगने वाला है। ऐसे वंदन से तो वंदन न करना प्रमाणिकता है। आज के ज्यादातर तथाकथित साधु संत भी बनावटी वंदन से खुश हो जाते हैं।

वंदन एक धार्मिक शिष्टाचार बनकर रह गया यह मनुष्य का दुर्भाग्य है। परंतु लोगों को ठगने और ठगाते रहने की आदत हो गई है। औपचारिक वंदन से संस्कारिता का भ्रम पलता रहता है। भारत के मनीषियों का उद्देश्य अनूठा और आध्यात्मिक था। वे मनुष्य को वंदन से समर्पण, समर्पण से ध्यान और ध्यान से समाधि तक पहुँचाना चाहते थे। परंतु ढोंगियों ने उसे असफल कर दिया और सोए हुए लोगों की भीड़ ने गड़बड़ कर दी।

प्रिय साधको !

गुरु के प्रति समर्पण का अर्थ है – अहंकार शून्यता, मनोशून्यता, संपूर्ण आधीनता और उस आधीनता में ही स्वतंत्रता के पार की स्वतंत्रता का आनंद। पसंद-नापसंद से ऊपर उठ जाने का आनंद। प्रतिपल सेवा के उत्सव मनाने का आनंद। गुरु की खुशी में अपनी खुशी नहीं परंतु केवल गुरु की ही खुशी। उपस्थिति में भी अनुपस्थिति। मन और मस्तिष्क की दक्षिणा देकर तथा तन और धन को गुरु सेवा में लगाकर कृत्य कृत्य हो जाना। गुरु ही भगवान और गुरु ही सर्वस्व। गुरु के हाथ का साधन बन जाना। गुरु जैसे चाहे ऐसे भले उसका उपयोग कर ले। गुरु जैसा कहे वैसा ही होना। गुरु का अनुकरण नहीं परंतु अनुज्ञा में रहकर अनुसरण। ऐसे शिष्य के लिए समर्पण ही सेवा, पूजा, पाठ, जप, तप, पुण्य और ध्यान सबकुछ है।

विश्व को गुरु शब्द भारत के पास से मिला है। यह एक अद्वितीय शब्द है। गुरु शब्द अपने आप में बड़ा विशाल अर्थ का समावेश कर लेता है। 'गुरु' शब्द समुद्र जैसा है। जैसे समुद्र शब्द छोटा है परंतु वास्तविकता में अमाप, अपार और गहन है। वैसा ही शब्द है 'गुरु'। जब साधक ऐसे गुरु को समर्पित हो जाता है तब उसे किसी परंपरागत औपचारिकता के बिना ही दीक्षा प्राप्त हो जाती है। दीक्षा के लिए कोई ढोल नगाड़े पीटने की जरूरत नहीं है। गुरु के प्रति समर्पण घटित होते ही आप समझ लेना कि आपकी दीक्षा हो गई। उस क्षण में गुरु भले आपसे दूर हो, गुरु को आपके बारे में पता भी न हो फिर भी मैं कहती हूँ कि आपकी दीक्षा हो गई। क्योंकि गुरु आपसे भले दूर है, अपरिचित है परंतु आप गुरु से दूर नहीं होते, न अपने गुरु से अपरिचित होते हो। यह परिचय चेतना के स्तर पर जन्म लेता है। व्यक्तित्व के स्तर पर नहीं।

मेरा स्पष्ट मत है कि परंपरागत अथवा धार्मिक औपचारिकताओं को पूरी करने से सही दीक्षा घटित नहीं हो सकती। सही दीक्षा तो समर्पण से ही घटित होती है।

अगर साधक का पूरा पूरा समर्पण नहीं है और वह केवल आवेश की अवस्था में है तो ऐसी दीक्षा एक धार्मिक और औपचारिक विधि से ज्यादा कुछ भी नहीं। दीक्षा के लिए अगर किसीको उसके क्षणिक भावावेश का फायदा उठाकर तथाकथित साधुओं ने उसे तैयार किया गया हो तो यह नाजयज्ञ दीक्षा है। भीड़ में एक सभ्य बढ़ाने का प्रयास है। स्वार्थ बुद्धि से गणित लगाकर अगर कोई समृद्ध सम्प्रदाय में दीक्षित हो रहा है तो समझना कि निजि स्वार्थ के लिए प्रचलित भीड़ में मिलने का यह एक चालाकीपूर्ण तरीका है। आज के आश्रम, मठ और मंदिर ऐसे तरीकों से छलकते हैं। ऐसी दीक्षाओं से धर्म की नाजायज़ औलाद बढ़ती हैं।

आज दीक्षा के नाम पर केवल प्रदर्शन बचे हैं। समर्पण हीन लोगों को दीक्षा देकर गुरु होने का भ्रम पालकर, समर्पणहीन हृदय पर यम नियम थोप कर उसे नज़रकैद रखने में ना कोई ज्ञान है, ना कोई साधुता, ना कोई गुरुता। ऐसे गुरुओं के कारण साधु समाज की रही-सही मस्ती भी निस्तेज उदासीनता में बदल जाती है। और दमित मनो से मठ-मंदिरों में धर्म की सुवास और आनंद के स्थान एक असह्य बू उठने लगती है। दमित चले गुरु के मरने की प्रतीक्षा करते हैं और जाग्रति, प्रेम, और अध्यात्म के बदले अपराध जन्म लेने लगते हैं।

भारत ने गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहा है। गुरु में त्रिदेव की धारणा दी है। यह बात केवल भावुकता की नहीं है। वह एक गर्भित इशारा है गुरुओं की ओर।

गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु.....

यह श्लोक गुरु और शिष्य दोनों को चेता रहा है। शिष्यों को इशारा कर दिया है कि कैसे गुरु को समर्पित होना चाहिए। और गुरुओं को जगाया है कि गुरु कैसा होना चाहिए।

ब्रह्मा सर्जक है, गुरु ब्रह्मा बनकर शिष्य के भीतर सजगता की सृष्टि का निर्माण करता है। और विष्णु जिस तरह से सृष्टि का पालन पोषण करता है वैसे गुरु शिष्य का रखवाला बनकर समय समय पर उसे मोह निद्रा से बचाकर सजगता की सृष्टि की रक्षा भी करता है। तथा महेश्वर की भांति कभी कभी उग्र बनकर, रुद्र बनकर शिष्य के जीवन में जो कुछ भी अनावश्यक है, उसके आध्यात्मिक विकास में जो कुछ भी बाधारूप है उसका ध्वंस कर देते हैं।

गहन प्रेम और अपार श्रद्धा के बिना गुरु के तीनों स्वरूपों को पचाना और पूर्ण समर्पण की अवस्था बनाए रखना असंभव है।

सब प्रकार की तैयारी करके आप जिस क्षण गुरु को समर्पित हो जाते हो उसी क्षण गुरु भी आपको परोक्ष रूप से समर्पित हो जाते हैं। आपके समर्पण से गुरु की जिम्मेदारियाँ बढ़ जाती हैं। आपका समर्पण आपके आध्यात्मिक विकास का आधार बन जाए इसलिए गुरु भी सजग रहते हैं आपकी श्रद्धा को अखंड रखने के लिए।

आपके समर्पण की वजह से गुरु को भी बहुत सारी स्वतंत्रता और सहजता का बलिदान देना पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं की गुरु दंभ करता है। परंतु इसका अर्थ यह है कि एक पहुंचे हुए महात्मा के लिए विधि – निषेध का ज्यादा महत्व नहीं होता। 'क्या करना, क्या नहीं



करना? 'ये सब शिष्य की अवस्था तक ही होते हैं। शिष्य का अर्थ है यात्रिक, अभी जो यात्रा में है, गति में है। जो शिक्षा पाकर शिक्षित होना चाहता है। जो विकसित हो रहा है। शिष्य की प्रारंभिक अवस्था में श्रद्धा नाजुक पौधे जैसी होती है, पौधे को संभालना पड़ता है, वटवृक्ष को बाहर के बदलते वातावरण की ज्यादा चिंता नहीं होती, गुरु की जड़ें परमात्मा में उतर गई होती हैं। शिष्य की जड़ें कच्ची हैं, वह अभी तो गुरु में उतर रहीं हैं। जिससे उसे ज्यादा संभालना पड़ता है।

गुरु का अर्थ है जिसकी यात्रा और शिक्षा पूर्ण हो गई। जो पाना था वो पा लिया। अब कुछ करना और नहीं करना, ऐसे बंधन से भी मुक्त हो गए। बंधन भी उसके लिए बंधन नहीं बन सकते। अब वे सदा मुक्त बन गए। गुरु का अर्थ है जिसने गुरुता प्राप्त कर ली। अब और सारी बातें छोटी हो गईं। अब वे सदा मुक्त बन गए हैं। अब मनोआसक्ति की कोई संभावना नहीं बची। मन उसके लिए मालिक नहीं साधन बन गया। जिसने गुरुता को पा लिया, जिसने प्रभुत्व को पा लिया, जिसने प्रबुद्धत्व को पा लिया, वह है गुरु।

फिर भी शिष्य को संशय न हो इसलिए गुरु को भी शिष्यगण जैसा व्यवहार करना पड़ता है। क्यों? क्योंकि शिष्य को संशय उठ सकता है। जो स्वतंत्रता शिष्य को नहीं मिल रही है ऐसी स्वतंत्रता गुरु ले रहे हैं तो यह बात शिष्य की समझ में नहीं आ सकती। उसकी श्रद्धा डगमगाने लगती है। उसका मन गुरु के प्रति संशय से भर जाता है। संशय श्रद्धा को तोड़ देता है। श्रद्धा की जड़ जब तक गहन प्रेम से अंतर के गहन तल तक न पहुंच जाए, अकाट्य न बन जाए और ज्ञान के फल न देने लगे। तब तक उसे संभालना पड़ता है। इसीलिए चौरासी सिद्धों में से एक ऐसे सरहपा ने कहा है कि 'लोग आपके ऊपर भरोसा रख सकें ऐसा व्यवहार करो।' यह उपदेश गुरुओं के लिए है।

आद्यशंकराचार्य ने भी कहा है कि -

यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं नाकरणीयं ना चरणीयं

ये पंक्ति भी गुरुओं के लिए हैं। आप भले सच्चे हो, परंतु लोगों को जो आचरण विपरीत लगता हो। ऐसा कभी मत करना। आचार्य शंकर का एक ही हेतु था और वह था मनुष्यता का अध्यात्म में प्रवेश करा देना। इसलिए आचार्य शंकर को ऐसा कहना पड़ा। लोगों का मन जब गुरु के प्रति संशय से भर जाता है तब गुरु सही होने पर भी शिष्यों की मदद नहीं कर सकते। पूरे भारत का पर्यटन करते करते एक सर्व सामान्य बात उन्होंने देख ली और वह यह थी कि लोगों की श्रद्धा बहुत नाजुक होती है। छोटी सी ठेस लगने से वह टूट सकती है। गुरु अपने ढंग से भले सही हो फिर भी समाज जिस आचरण की अपेक्षा रखता है ऐसे ही गुरुओं को जीना है। अगर ऐसा नहीं हुआ तो लोगों की श्रद्धा टूट जाएगी। अगर श्रद्धा टूटी तो समर्पण असंभव हो जाएगा। जब तक साधक समर्पित नहीं होगा तब तक गुरु का पूर्ण सानिध्य प्राप्त नहीं होगा। और पूर्ण सन्निधि के बिना शिष्य जाग नहीं पाएगा। कहने का हेतु यह है कि दूसरों के कल्याण के लिए भी परम स्वतंत्र संतों को अपनी स्वतंत्रता पर भी अंकुश रखना पड़ता है। विश्व के इतिहास में हम देखते आए हैं कि जिन गुरुओं ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया वैसे गुरु समर्थ होने पर भी शिष्यों का ज्यादा हित नहीं कर पाएंगे।

गुरु को कुछ निरर्थक बातों का भी अनुसरण इसलिए करना पड़ता है कि शिष्य अनुसरण करे। अपरिपक्व शिष्य जब गुरु के कुछ व्यवहारों को देखकर संशय की नजरों से देखने लगता है तब श्रद्धा टूटने के साथ साथ एक दूसरा खतरा है। कच्चे शिष्य गुरु के व्यवहार का अनुकरण भी करने लगते हैं और वह शिष्यों के लिए घातक बन जाता है।

एक बार आचार्य शंकर शिष्यों के साथ एक कलाल की दुकान पर भिक्षा लेने गए। कलाल की दुकान में तो शराब ही बनती है, कलाल ने कहा 'मेरी दुकान में तो शराब है, क्या दूँ आपको भिक्षा में?' शंकर ने कहा - 'जो है सो दे दे।' वैसे भी जागे हुए लोग पसंद नापसंद से ऊपर उठ गए होते हैं। कलाल ने शंकर के पात्र में शराब डाली, शिष्यों ने भी हाथ फैलाया और भिक्षा में शराब ले ली। शंकर शायद शिष्यों की परीक्षा करना चाहते थे। शिष्यों का अभिगम देखना चाहते थे। शिष्यों की परिपक्वता का अभ्यास करना चाहते थे। शंकर ने शराब पीना शुरू किया। शिष्यों ने सोचा कि गुरु पी रहे हैं तो हमको पीने में क्या तकलीफ है? शिष्यों ने भी शराब पीना शुरू किया। फिर शंकर आगे बढ़े। आए एक लुहार की भट्टी पर, वहाँ फौलाद उबल रहा था, शंकर ने भिक्षा के लिए पात्र फैलाया, लुहार ने कहा 'यहाँ तो उबलता फौलाद है, मैं आपको भिक्षा में क्या दूँ?' शंकर ने कहा - 'जो है सो दे दे।' शंकर ने उबलता फौलाद पात्र में ले लिया। पात्र न टूटा न गला। शंकर ने उबलते फौलाद को पीना शुरू किया। शंकर को कुछ नहीं हुआ। शिष्य घबरा गए, शंकर ने कहा, 'भिक्षा लो।' शिष्यों ने कहा, 'हम तो जल जाएंगे, मर जाएंगे।' शंकर ने कहा, 'शराब पी सकते हो तो फौलाद क्यों नहीं पी सकते?' शिष्यों को गुरु के सामर्थ्य का बोध हो गया। उन्हें पता चला कि गुरु जैसा कहे ऐसा करना होता है, जो करे ऐसा करना नहीं होता है। परंतु ऐसा चमत्कार बार बार करना यह भी गुरु के लिए उचित नहीं होता। योग-मार्ग सिद्धि प्रदर्शन के लिए मना करता है।

इसलिए तो कबीर एक दूसरी अति पर पहुंचकर कहते हैं कि गुरु के एक हाथ में वैश्या और दूसरे हाथ में शराब की बोतल को देखो तो



भी संशय मत करना। अपनी श्रद्धा को डिगने मत देना। कबीर यहाँ शिष्यों को पूर्ण समर्पण की प्रेरणा दे रहे हैं। गुरु में कभी भी संशय न करने वाले शिष्य विरले होते हैं। परंतु साधारण शिष्य तो गुरु के बाहरी व्यवहार को ही देखते हैं। इसलिए गुरु को भी बहुत सारी ऐसी बातें जो अनावश्यक हैं फिर भी करना पड़ता है शिष्यों के कल्याण के लिए।

साधारण मनुष्य को ज्ञान की प्यास तो होती है परंतु उसके पास दृष्टि नहीं होती। वह ज्ञान की आंख से देखने को सक्षम नहीं होता। वह सबकुछ अपनी आंख से देखता है। उसकी आंख मन की आंख हैं। मन तो भले बुरे की पहले से मिली हुई धारणाओं के अनुसार ही घटनाओं का अर्थघटन करता है। गुरु का कार्य है नई आंखों को देना। परंतु जब तक नई दृष्टि विकसित न हो तब तक शिष्य को संभाल लेना पड़ता है। इसलिए बहुत सारी बातें ऐसी होती हैं कि जो शिष्यों के साथ गुरु को भी करनी पड़ती हैं। साधारण मनुष्य को यह समझ नहीं है कि गुरु के पास से अपेक्षाएं नहीं रखी जाती। समर्पण शर्तों से नहीं होता। गुरु पूर्ण स्वतंत्र होते हैं। समर्पित शिष्य की कोई स्वतंत्रता नहीं होती। साधारण शिष्य नहीं समझ सकता कि गुरु हमारी अपेक्षाएं पूर्ण करने के लिए नहीं है। हम गुरु के लिए बंधन खड़ा करने के लिए नहीं आए हैं। हम तो अपेक्षाओं के पार की अवस्थाओं में जाने के लिए यहाँ आए हैं। प्रत्येक साधक अपने गुरु की छबि अपने मन में बनाकर फिरता है। जहाँ उसे उस छबि के अनुरूप माहौल दिखता है वहाँ उसकी श्रद्धा जुड़ जाती है। वह वहाँ समर्पित होने के लिए तैयार हो जाता है। मनुष्य अपनी पात्रता के अनुसार गुरु की छबि रचता है। और उसके अनुसार गुरु को ढूँढ लेता है।

परंतु याद रहे! आपकी बनाई हुई छबि ज्ञान से नहीं बनी है, मन से बनी है। वह गलत भी हो सकती है परंतु गुरु गलत नहीं हो सकते। शिष्य का समर्पण बना रहे ये शिष्य के कल्याण के लिए, शिष्य को विकसित होने के लिए, संसार के पार पहुंचने के लिए, बहुत जरूरी है। इसलिए तो ज्ञानी संत कबीर ने कहा –

गुरु गोविंद दोनो खड़े.....

ये कोई तर्क सुसंगत बात नहीं, यह है एक परम सत्य है। एक हजार साधकों में से नौसो निन्याबे लोगों को तो गुरु के जरिए ही गोविन्द मिलते हैं। गुरु परमात्मा को पहचानने की दृष्टि देते हैं। वह सत्य का साक्षात्कार करा देते हैं। शिष्य को एक दिन अचानक पता चल जाता है कि गोविन्द कोई मंदिरों में नहीं है परंतु सत्य ही गोविन्द है। सत्य को यथार्थ रूप में जानना समझना, उसका स्वीकार करना और उसमें जीना ही परमात्मा में जीना है।

कभी कभी मनुष्य का अहंकार झुकने के लिए कोई स्थान ढूँढता है। उसकी शर्त होती है कि मुझसे जो महान होगा उसके चरणों में झुक जाऊंगा। अहंकारी मन ने महानता के मापदंड अपने हिसाब से बनाए हुए होते हैं परंतु साधक के कल्याण के लिए कभी कभी समझदार गुरु साधक के जागने तक उस मापदंडों के निरर्थक होने पर भी खुद को उसमें बिठाते रहते हैं। परंतु याद रहे ये गुरु की शिष्य पर करुणा है मजबूरी नहीं।

अगर वे ऐसा नहीं करेंगे तो साधक का सिद्ध बनने की संभावना खत्म हो जाएगी। गुरु कभी कभी कठोर दिखते हैं परंतु होते हैं करुणावान, करुणा के वश वे अपनी स्वतंत्रता की फिक्र किए बिना शिष्य की श्रद्धा को बचा लेने के लिए शिष्य की पात्रता को देखकर समर्पित हो जाते हैं। जो गुरु ऐसा नहीं कर सकते हैं उसके पास से नासमझ शिष्य भाग जाते हैं और चूक जाते हैं।

मुझे एक किस्सा याद आ रहा है। आज से करीब पच्चीस साल पहले महाराष्ट्र के अमरावती शहर में मेरा मानस ज्ञानयज्ञ था। वहाँ एक साधक ... नाम तो याद तो नहीं उसकी सरनेम लड्डा थी। लड्डाजी अमरावती के बहुत प्रतिष्ठावान धार्मिक और बुजुर्ग सेठ थे। उसकी हवेली पर मेरे नौ दिन ठहरने की व्यवस्था की गई थी। वह एक वैष्णव परिवार था। उसकी बड़ी बहू बहुत सेवाभावी और गुणवती थी। उन्होंने मेरे बारे में बहुतकुछ सुना था। मेरे प्रवचन की केसेट सुनकर उसका पूरा परिवार मुझसे बहुत प्रभावित था। दो दिन तक सब ठीकठाक चला। तीसरे दिन उसकी बहू ने मुझे पूछा क्या आप लहसुन प्याज खाते हो? मैंने कहा – ऐसा नहीं है कि चाहिए, परंतु किसीने अगर सब्जी में डाल दिया है तो खा लेते हैं। उसको मेरी बात सुनकर बड़ा सदमा पहुंचा। मुझे ऐसी प्रतिक्रिया की अपेक्षा पहले से थी ही परंतु दंभ करने की मेरी कोई तैयारी नहीं थी, ना झूठ बोलने का स्वभाव था। नौ दिन तो वे चुप रहे परंतु अंतिम दिन लड्डाजी से नहीं रहा गया और उसने मुझसे कहा कि आप विदुषी हैं, श्रेष्ठ वक्ता हैं, भारत की युवा गुरु हैं, हमारे आचार्यों से तो आप ज्ञान में बहुत आगे हैं। हमें शक्ति का अवतार लगते हैं। परंतु अगर आपने लहसुन प्याज नहीं छोड़े तो एक बड़े वैष्णव समाज को आप अपना नहीं बना पाएंगी। आप कृपा करके लहसुन प्याज छोड़ दें। तो हम आपके अनुयायी बन जाएं। मैंने उसको कोई उत्तर नहीं दिया। और फिर उन्होंने कभी शक्ति के अवतार को अपने घर भी नहीं बुलाया। लोगों की श्रद्धा बहुत निरर्थक बातों पर टिकी हुई होती है। उनको ज्ञान के साथ कुछ लेना देना नहीं होता। ऐसे लोगों को समर्पण भी नहीं करना होता है। उन्हें तो भगवान भी अपनी धारणाओं के अनुसार जीने वाला चाहिए।

खैर ! मैं इतना अवश्य कहूंगी कि शिष्य का समर्पण सच्चा है तो गुरु अपनेआप समर्पित हो जाते हैं। ऐसे समर्पित शिष्य को पता चले कि एक ओर से भगवान आ रहे हैं और दूसरी ओर से गुरु पधार रहे हैं तो ऐसा शिष्य पहले गुरु के स्वागत के लिए तत्पर रहेगा। सहजोबाई की तरह।

प्यारे साधको !

श्रद्धा की भूमि में और प्रेम की क्यारी में समर्पण खिल उठता है। ऐसा समर्पण स्वयं में ज्ञान है, ध्यान है, स्वयं में एक साधना है, और सिद्धी भी है। ऐसा समर्पण केवल समर्पण से ही परिपूर्ण होता है। ऐसा समर्पण ज्ञानोपलब्धि के बाद विदा नहीं हो जाता। वह तो गुरु के सानिध्य में ही मोक्ष और स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। ऐसा समर्पण भगवान को भी गुरु के द्वारा ही प्राप्त करना चाहता है। वह भगवान के लिए कहीं भागदौड़ नहीं करता जैसे कि शबरी। गुरु के वचन में विश्वास ही उसका बल होता है। ऐसे समर्पण को भगवान स्वयं ढूँढ लेते हैं और आकर भोजन भी मांगते हैं। ऐसे समर्पित शिष्य के बेर भी भगवान के लिए पकवान बन जाते हैं। ऐसे समर्पण के बाद जो कुछ भी होता है वह गुरु के लिए ही होता है। ऐसे शिष्यों को भगवान के लिए कुछ करना नहीं पड़ता। भगवान तो अपनेआप आ जाते हैं उन्हें ढूँढते ढूँढते। ऐसे समर्पण को कोई प्रार्थना, पूजा या विधि विधान की जरूरत नहीं होती। उसके लिए तो स्वयं गुरु प्रभु को प्रार्थते हैं।

सिख धर्म का वाहे गुरु मंत्र मुझे बहुत प्यारा लगता है। वाहे गुरु का अर्थ है 'गुरु की जय हो।' समर्पित शिष्य केवल गुरु की जय जयकार करता है। उससे प्रभु की जय जयकरा सहज ही हो जाती है। स्वाभाविक है कि समर्पित शिष्य गुरु की जय जयकार ही करेगा। क्योंकि उसने जो कुछ भी पाया वह गुरु के जरिए ही पाया है।

प्रिय साधको !

ऐसे प्रेमी शिष्य जब ध्यान में उतरते हैं तब उन्हें कोई भी विधि दो, परंतु उसको आंखें बंद करने के बाद भी गुरु ही दिखाई देते हैं। वास्तव में उसके लिए गुरु ही भगवान हैं, गुरु सेवा ही साधना है, गुरु कृपा ही उसका उद्देश्य है।

प्रिय साधको !

अगर आपमें एक ऐसे शिष्य का जन्म हो चुका है और आप आंख मूंदें कि तुरंत गुरुमूर्ति ही दृष्टिगोचर होने लगती है और चित्त शांति, प्रसन्नता और निर्भयता से भर जाता है तथा अन्य सब ध्यान विधियाँ निरर्थक लगती हैं। तो समझ लो कि अन्य कोई विधियाँ आपके काम की नहीं हैं। और उतर जाओ सद्गुरु के स्वरूप में। हो जाओ पूर्ण रूप से समर्पित, आपका समर्पण आपके लिए महासिद्धि, महाशांति और समाधि बन जाएगा।

## धरणा - ७६

### भक्ति ध्यान

प्रिय साधको !

अब हम एक सरल सुगम फिर भी श्रेष्ठ ऐसी ध्यान विधि की ओर जा रहे हैं। मैंने दस प्रकार के शरीर बताए हैं। भारतीय दर्शन शास्त्र कहता है कि तीन प्रकार के शरीर हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण।

कुछ चिंतक और वैज्ञानिक सात प्रकार के शरीर मानते हैं। परंतु मेरे अनुभव ने मनुष्य देह को दस प्रकार में बाँटा है। जिसको मैंने तत्त्व शरीर अथवा पदार्थ शरीर अथवा भूत शरीर, साधन शरीर, संवेदना शरीर, बौद्धिक शरीर, इन्द्रिय शरीर, इच्छा शरीर, प्राण शरीर, सूक्ष्म शरीर, अध्यात्म शरीर तथा सनातन शरीर कहा है।

सनातन शरीर को छोड़कर हर शरीर कुछ न कुछ मांगता है। उसे पुष्ट और जीवित रहने के लिए स्थूल अथवा सूक्ष्म आवश्यकताएं रहती हैं। वह मांग सात्विक हो या तामसी यह बात अलग है परंतु हर शरीर की मांग है। जब तक वे शरीर सनातन शरीर में न मिल जाएं तब तक मांग चालू रहती है।

मानसिक रूप से सनातन शरीर में मिल जाने को भारतीय दर्शन अद्वैत कहता है और पूर्ण रूप से सनातन शरीर में विलीन हो जाने को मोक्ष या परिनिर्वाण कहा है।

परंतु मेरा अनुभव है कि ध्यानावस्था में सारे शरीर अपनी मांग से ऊपर उठ जाते हैं। मांगे रूपांतरित हो जाती हैं अथवा समाप्त हो

जाती हैं। मांगे मांगने के बदले कुछ देने लगे उसे मैं माँग का रूपांतरण कहती हूँ। आपके साथ जब ऐसा हो तब समझना कि बिना चाहे, बिना माँगे ध्यानवृक्ष फलित हो रहा है।

दस प्रकार के शरीरों में से संवेदना शरीर एक महत्वपूर्ण शरीर है। अगर आपका यह शरीर प्रबल है तो आपको ध्यान की कुछ विशेष विधियों में से गुजरना पड़ेगा।

जब मैं विधि बताती हूँ तब कहती हूँ कि विधि को लेकर ज्यादा चिंतित मत होना। मेरे द्वारा बताई हुई ध्यान विधि रास न आए तो दूसरी विधि की ओर मुड़ जाना। हो सकता है कि आपके दायरे के बाहर की विधियाँ आपको कठिन लगें। आपके विविध शरीर की बनावट को मैं आपका दायरा कहती हूँ। इसे ज़रा ध्यान से समझना – आपका पदार्थ देह अर्थात् पंचमहाभूत देह से बने हुए देह में भी पांच तत्व हैं – अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल और आकाश। इन पांचों तत्वों में से भी प्रत्येक मनुष्य का किसी एक तत्व के साथ विशेष तदात्म्य होता है। उस तत्व के साथ वह विशेष अनुकूलन साध सकता है। जिसका पदार्थ शरीर में अग्नि तत्व का विशेष प्रभाव है तो उसका मन भी उसके अनुसार बनेगा। अग्नि तत्व के विशेष प्रभाव वालों का स्वभाव उग्र होता है। वायु तत्व का जिस पर विशेष प्रभाव है उसका मन चंचल और स्वभाव बातूनी होता है, ऐसे लोग कुछ भी समझे बिना बोलना चालू कर देते हैं। वे सोचते हैं कि बातचीत में उनके लिए जगह है कि नहीं। वे जो बोलते हैं वह उचित, सुसंगत और समय के अनुरूप है कि नहीं। उसे बोलना ही है। वह बकता जाता है, सामने वाले की फिक्र किए बिना। पुनरावर्तन करता रहता है अपनी बातों का।

जिसके पदार्थ शरीर का जल तत्व प्रबल होता है। उसका स्वभाव शीतल होता है और मन प्रवाही। ऐसे लोग किसी भी के साथ घुल मिल सकते हैं और कुछ तरंगी किस्म के होते हैं। जिसके पदार्थ शरीर में आकाश तत्व प्रबल होता है वह स्वभाव से उदार, सरल और क्षमावान होते हैं। उसका मन दुर्घटनाओं को जल्दी भुला देता है और उसे संगदोष कम लगता है। उसे कोई जल्दी दूषित नहीं कर पाता।

इन सारी बातों को आप विज्ञान की पुस्तकों में ढूँढने जाएंगे अथवा धर्मग्रंथों में ढूँढने जाएंगे तो नहीं मिलेंगी अथवा अलग भाषा में मिलेंगी।

यहाँ मैं एक ऐसी ध्यान विधि बताने जा रही हूँ कि जो आपके संवेदन शरीर से संलग्न है। जो मनुष्य बौद्धिक देह की सत्ता में जी रहा है, ऐसे मनुष्यों के लिए यह विधि काम की नहीं है। क्योंकि बुद्धि संशय करती है, बुद्धि तर्क करती है, बुद्धि साधना में विक्षेप खड़ा करती है। संस्कृत में दो शब्द हैं – ‘बुधः’ और दूसरा ‘प्रबुद्ध’ दोनों में फर्क है। शब्दकोष विशेष भेद नहीं कर पाएगा क्योंकि वह निश्चित अर्थ देने के लिए बंधा हुआ है। वर्णन और विशेष अर्थघटन करने की क्षमता शब्दकोष के पास नहीं है। अगर कोष बनाने वाला विस्तार में पड़ेगा तो कोष का कद इतना बड़ा हो जाएगा कि मनुष्य थक जाएगा। इसलिए शब्दकोष एक सीमा तक ही आपको अर्थ दे सकता है। परंतु कुछ अर्थ अर्थ के पार के होते हैं। और ऐसे अर्थ बुद्धि के स्तर पर समझ में नहीं आते हैं। उन्हें समझने के लिए एक विशेष समझ और अंतरदृष्टि की आवश्यकता है। ऐसी बात शब्दों के पार के शब्दों में अर्थघटित होती है यह निःशब्द की भाषा है। कुछ बात ऐसी होती है जो शब्दों से मात्र सुनी जाती है उसका अर्थ ग्रहण करने वाला तत्व मन और बुद्धि के पार का होता है। सीधे सादे सपाट शब्दों में कुछ अभिव्यक्तियाँ नहीं हो सकतीं और ना ही कठिन शब्दों से हो सकती हैं। इसलिए कहती हूँ कि कुछ बातों का सीधा अर्थ नहीं निकलता, वह तो किसी विशेष जगत से ध्वनित होता है। जिसे विशुद्ध चित्त समझ लेता है। ऐसा चित्त बुद्धिभार से मुक्त होता है। ऐसा ही एक शब्द है, ‘बुद्ध’।

मैं कहूँगी कि जो बुद्धिमान है वह बुद्ध नहीं परंतु जो बौद्धिक जगत से और बौद्धिक शरीर के पार चला गया है वह है बुद्ध। बुद्धि जगत में मैंने बहुत सारे अबूझों को देखा है।

मैं कहती हूँ कि जिसका बौद्धिक शरीर प्रबल है उसके लिए कुछ ध्यान विधियाँ मदद नहीं कर सकतीं। ऐसे लोगों के लिए कुछ अलग विधियाँ हैं। जिसके द्वारा पहले उसका बौद्धिक शरीर तृप्त होता है। बुद्धि के तृप्त होने से वह विक्षेप करना बंद करती है और साधक आगे की यात्रा करके विकसित हो सकता है।

मैं जो विधि बताने जा रही हूँ वह विधि सीधा ही आपके संवेदन शरीर को छू लेती है। जिसका संवेदना शरीर प्रबल है वह मनुष्य कैसा होगा, इस बात को पहले ध्यान से समझ लो, जान लो। फिर देखो कि आपका संवेदना शरीर प्रबल है? अगर ऐसा है तो मैं जो विधि बताने जा रही हूँ वह आपके लिए ही है ऐसा मानकर विधि में डूबना आरंभ करो।

जिसका संवेदना शरीर प्रबल होता है वह मनुष्य अत्यंत भावुक और सरल होता है। उसके जीवन में सहजता ज्यादा होती है। ऐसे लोग प्रेम के लिए ही होते हैं। उनमें ग्रहणशीलता ज्यादा होती है। आध्यात्मिक अर्थ में कहूँ तो ऐसे लोग भक्तिमार्गी हैं।

अगर आप भावपूर्ण हृदय वाले हैं, अगर आप विशेष संवेदनशील स्वभाव के हैं तो आपके लिए प्रेम ही सर्वस्व है। कवि, कलाकार,

प्रेमी, भक्त इन सबका संवेदना देह विशेष रूप से प्रबल होता है। जो अपनी संवेदनाओं को विशेष मार्ग से निखारता है और नवसर्जन करके उसे प्रगट करता है जिससे स्वयं और दुनियाँ दोनों को आनंद मिले ऐसे लोगों को मैं संवेदना शरीर के सही मालिक कहूँगी।

संवेदनशील और भावनाप्रधान मनुष्य अपने हृदय के तारों को श्रद्धा के बल से किसी कला अथवा अज्ञात को अपना ईष्ट बनाकर उसके साथ जुड़कर उसके प्रेम में पलते रहते हैं, मिटते रहते हैं, बनते रहते हैं, हंसते-रोते रहते हैं; इस अवस्था को संत भक्ति कहते हैं।

प्यारे साधको!

पूर्ण रूप से भक्ति में विलीन हो जाना भक्तिध्यान है। जहाँ भक्त खो जाए और सिर्फ भक्ति ही बचे तब ऐसी भक्ति ध्यान बन जाती है। भक्ति दर्शनशास्त्र का नहीं परंतु प्रेमदर्शन का विषय है। जिस प्रेम का दर्शन मनुष्य को अपनी आत्मा में होता है। इसलिए इसे आत्मदर्शन का विषय भी कह सकते हैं। फिर भी दर्शन शास्त्रियों ने भक्ति के दो भेद बताए हैं। साकार की भक्ति और निराकार की भक्ति। अथवा निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति। दर्शन शास्त्र का काम यही है कि भेद के द्वारा अभेद में पहुंचने की फिलसुफी सिखाना। दर्शन शास्त्र पांच विषय के इर्द-गिर्द घूमता है – जीव, जगत, ईश्वर, मन और माया। इन पांचों के भेद से अनेक प्रश्न उठाकर स्वतः उसका समाधान ढूँढना। एक चिंतनशील चित्त अपने ही चित्त में प्रश्न उठाता है और अपने ही चित्त के द्वारा समाधान पाने का प्रयास करता है। वहाँ हर रहस्य को बुद्धि एवं तर्क और सिद्धांत की कसौटी पर चढ़ाया जाता है। ऐसे लोग भगवान को भी तर्क के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। परंतु प्रेम में कोई तर्क नहीं चलता। प्रेम दर्शन से आगे है। प्रेम बुद्धि का नहीं अनुभूति का विषय है। प्रेम में प्रश्न उठते ही नहीं। प्रेम न बुद्धि की भाषा जानता है, न तर्क वितर्क करता है; वह तो केवल किसी का होना जानता है। प्रेम केवल समर्पित हो सकता है। प्रेम प्रेम की भाषा ही जानता है। जहाँ शास्त्र शब्द और पांडित्य छोटे पड़ जाते हैं।

वह प्रेम जब किसी अज्ञात के प्रति तीव्र हो जाता है तब उसे भक्ति कहते हैं। भक्ति एक अलौकिक प्रेम है। वहाँ शब्द संकेत और तर्क की भाषा नाकाम हो जाती है। प्रेम हृदय का विषय है। हृदय सिर्फ भाव की भाषा समझता है। इससे आगे कहें तो प्रेम की भाषा है अश्रु, रोमांच, मूर्छा और प्रलाप। प्रेमियों को पता नहीं होता है कि वे क्या बोल रहे हैं? उनकी बातें बुद्धि में से नहीं आती हैं। प्रेम में मनुष्य बच्चे जैसा बन जाता है। आपने देखा होगा बच्चों को, वे कुछ भी बोलते रहते हैं। प्रेमी भी ठीक ऐसे ही होते हैं। भाव जगत से बच्चे की तरह शब्द फूट पड़ें यह बात अलग है परंतु वहाँ मस्तिष्क की कोई महिमा नहीं है। भक्ति एक ऐसा मार्ग है कि जहाँ सर के लिए कोई जगह नहीं है। भक्ति में सर कटाना और झुकाना दोनों मज़ा देता है।

अकबर मुरादाबादी के पास कुछ लोग शायरियाँ सीखने के लिए आया करते थे। अकबर उन्हें सिखाता भी था, परंतु उन नौसीखे लोगों की शायरियाँ दमदार नहीं होती थीं। तब अकबर ने कुछ लब्ज कह दिए।

इश्क को दे जगह दिल में अकबर

इल्म से शायरी नहीं होती...

प्रेम में मनुष्य कवि बन जाता है। प्रेम कविता में प्राण फूंक सकता है। अकबर कहता है कि केवल छंदों के ज्ञान से शायरी नहीं बन सकती। दमदार शायरी के लिए दिल में प्रेम का दर्द जरूरी है।

प्रेम के बारे में कहा गया है कि –

इश्क की जिसपर इनायत हो गई

होश जाहिल अक्ल रुख्सद हो गई ...

मस्तिष्क का विदा होना ही प्रेम का प्रारंभ है। हमेशा मस्तिष्क के साथ जीने वाला आदमी कभी प्रेम नहीं कर सकता। तो भक्ति तो कैसे कर पाएगा। ऐसा इश्क जब ईश्वर की ईबादत बन जाता है तब वह क्षणिक नहीं होता, न व्यक्तिगत रहता है। ईश्वरीय इश्क एक निरंतर प्रक्रिया बन जाता है। वह एक अंतहीन घटना बन जाती है।

मेरे पास कुछ भक्त आया करते हैं। वे आश्रम में सेवा देने के लिए आते हैं। वे मूल में भक्त हैं परंतु ध्यान में भी बैठते हैं। वे लोग जब भी आते हैं तब मेरे हाथ में कलम होती है या ग्रंथ होता है। उनमें से एक ने एक बार मुझे पूछ लिया कि और कुछ काम करते हैं कि यही करते हो? यह लिखना पढ़ना कब पूरा होगा? रोज कुछ न कुछ लिखती रहतीं हैं! रात में भी उठ कर लिखतीं हैं! काफी कविता बनाती रहती हैं! कभी शेर-शायरी, कभी भजन, कभी कुछ कभी कुछ; आराम करते हो कि नहीं? तब तो मैंने हंसकर बात टाल दी, परंतु बाद में कुछ पंक्तियाँ लिख दीं।

ईबादत में तेरी वल्लाह!



बड़ा आराम मिलता है  
कहीं मंदिर कहीं मस्जिद  
यहाँ दिल में दीदारी है।

सर्जक के लिए शब्द का लिखना भी बंदगी बन जाती है, इबादत बन जाती है। उसके लिए शब्द शब्द नहीं रहते, शब्द ब्रह्म बन जाते हैं और सर्जक भक्त कक्षा का हो तो बात कुछ और ही होती है। सच्चे प्रेमी को भगवान के दर्शन के लिए मंदिर और मस्जिद तक भी नहीं जाना पड़ता है। उसको तो अपने दिल में ही भगवान का दर्शन हो जाता है। और सृजन करते करते शरीर कितना भी थक जाए फिर भी भक्त की रूह को आराम का एहसास होता है।

उसके सर्जन को कोई क्या नाम देता है, उसकी उसे परवाह नहीं होती।

कोई कहता इसे नग्मा  
कोई कलाम कहते हैं  
हकीकत में मेरे दिलदार को  
एक खत पहुंचता है।

भक्त का सृजन तो भगवान के नाम लिखा हुआ एक प्रेमपत्र है। उसकी रचना पूर्ण होते ही उसे अहसास होता है कि उसका पत्र पहुंच गया परमात्मा के हाथों में। ऐसे भक्त का संवाद शब्द के माध्यम से सीधा परमात्मा के साथ होता है। सामान्य मनुष्य उसे नहीं समझ पाता है। ऐसे भक्तों का प्रेम जरूरी नहीं है कि तस्बी और पूजा पाठ से ही व्यक्त हो। उसके प्रेम को व्यक्त होने के लिए कोई धार्मिक चिन्हों और साधनों की गरज नहीं रहती है।

ईबादत तो ईबादत है  
ईबादत की अनोखी रीत  
वो तस्बी पाठ पूजा से  
कभी पूरी नहीं होती।

बंधी हुई भक्ति भक्ति ही नहीं है। भक्ति तो है समन्दर की स्वतंत्र लहरों की भांति। वह एक निरंतर प्रक्रिया है।

खुद में भी खुदा को देखे जो  
हर सांस इबादत होती है  
चश्मेनम तस्बी के दाने  
आंखों से रहम टपकती है।

जैसे समंदर और उसकी लहरें भिन्न नहीं होतीं, वैसे भक्त के लिए खुद और खुदा दोनों जुदा नहीं होते। ऐसे भक्त को भक्ति करनी नहीं पड़ती है वह तो होती रहती है। उसकी हर सांस ईश्वर की इबादत बन जाती है। प्रेम में तरबतर भक्त की आंख से बहते हुए करुणापूर्ण आसुं तस्बी के दाने बन जाते हैं।

भक्त भगवान के लिए लिखता है, भगवान के लिए गाता है, भगवान के लिए नाचता है और भगवान में ही जीता है। कुछ दिन पहले किसी ने मुझे कहा कि आप बहुत अच्छा लिखते हैं। तब कुछ पंक्तियाँ स्फुरित हुईं –

मेरे दिल के फलक पर इश्क के अल्फाज़ उठते हैं  
कलम कागज को लाखों शुक्रिया जो बनते हैं जरिया।

यह एक अनुभूति की बात है। एक बौद्धिक चित्त इस अवस्था को नहीं समझ सकता। बौद्धिक चित्त उत्तम रचना के लिए आयास प्रयास करता है। परंतु भक्त जो लिखता है वह सहजता से अब्दुत बन जाता है।

भक्त अहंकार और बुद्धि के साम्राज्य में नहीं जी सकता। मीरा को मेवाड़ के राजमहल में और कोई तकलीफ ही नहीं थी। तकलीफ इतनी ही थी कि उसके रूहानी बातों को समझने वाला वहाँ कोई नहीं था। मीरा हार्दिक थी और उसके इर्द गिर्द अहंकार का साम्राज्य था। वह एकांत में अपने अज्ञात प्रियतम के साथ संवाद करती थी। बंद दरवाजे से एक बार उसकी ननद उदा ने मीरा के प्रेमालाप के कुछ शब्द सुन लिए। और वह मीरा को शंका से देखने लगी। उसने मीरा के देवर विक्रमाजित को मीरा के चरित्र के बारे में उकसाया। विक्रमाजित ने रात के वक्त मीरा के कमरे की किवाड़ को तोड़कर खुली तलवार के साथ अचानक प्रवेश किया। वह सत्य को ढूँढ़ने के लिए आया था परंतु सत्य कोई

चीज़ नहीं कि उसे कोई भी ढूँढ़ ले। उसे ढूँढ़ने के लिए तो पहले सत्यरूप बनना पड़ता है, उसीको उसकी प्राप्ति होती है, उसका अनुभव होता है। वह अनुभव इन्द्रियातीत है। सांसारिक सत्य तो आंखों से देखे जाने पर और कानों से सुने जाने पर भी झूठ होते हैं। ऐसे सत्य सत्य होने पर भी सत्य नहीं होते। ऐसे सत्य को अगर किसीने सही सही रूप में जान लिया तो भी निरर्थक है। सार्थक यही है कि आप परम सत्य को जान लो।

मानो कि किसीके चरित्र को आपने जान लिया कि वह सही है कि ढीला तो उससे कोई आत्यंतिक लाभ नहीं है। ऐसी बातों को जानने से कोई आध्यात्मिक विकास नहीं है। वह सत्य एक सांसारिक सत्य है। और वह भी दूसरे का। ऐसे सत्यों में ज्यादा रस लेना मूढ़ता है।

सत्य तो यह है कि जो आपको सत्यरूप बना दे। आपको कंगाल में से शहनशाह बना दे।

मैंने सुना है कि सिद्धों के समय में सिद्ध लोग एक विशेष अंजन बनाया करते थे। जिस साधक पर वे प्रसन्न हो जाते थे उसे वे वह अंजन दे देते थे। उस अंजन का करिश्मा ऐसा था कि उसे जो आंख में आंझ ले वह पर्वतों और वनों में अथवा भूमिगत गुप्त खजाने को देखने लगता था।

कहने का तात्पर्य यह है कि सत्य एक विशेष दृष्टि देता है जिससे मनुष्य के भीतर का खजाना जगमगाने लगता है। लेकिन विक्रमाजित और उदा जैसे लोगों को दूसरों के ऐब देखने में ही रस होता है। विक्रमाजित ने मीरा के कमरे में प्रवेश तो किया परंतु सत्य को नहीं पा सका। राजा की समझ में सिर्फ इतना ही आया कि मीरा के कमरे में कोई पुरुष नहीं है। परंतु वह मीरा के सत्य को नहीं जान पाया। अगर वह सत्य को जान लेता तो मीरा को मेवाड़ नहीं छोड़ना पड़ता। एक भावनाहीन और अहंकारी चित्त संशय से भरा हुआ होता है। ऐसा चित्त अज्ञान से छलकता है। ऐसे लोगों के एक संशय का समाधान हो जाता है तो वे दूसरा संशय खड़ा कर लेते हैं। ऐसे लोग प्रेमियों को नहीं समझ सकते, वे सात जन्म में भी भक्ति नहीं कर सकते। परंतु एक प्रेमी हृदय श्रद्धा से जुड़ा हुआ होता है। वह श्रद्धा किसी शाश्वत के प्रति, सनातन के प्रति, साकार के प्रति या निराकार के प्रति हो सकती है।

दुनियादारी विश्वास पर चलती है। पोस्ट खाते से लेकर प्राइवेट कुरिअर तक और बैंक से लेकर ब्लेक की दुनिया तक का व्यवहार विश्वास पर चलता है। परंतु भक्ति, प्रेम और श्रद्धा से पनपते रहते हैं। आपको प्रश्न उठ सकता है कि प्रेम और भक्ति में क्या फर्क है? मैं कहूँगी कि जीवन्त पात्र के प्रति जो भाव, लगाव और समर्पण होता है वह प्रेम है और किसी अज्ञात के प्रति जो प्रेम होता है वह है भक्ति। प्रेम करना सरल है, भक्ति करना कठिन। क्योंकि प्रेम में प्रिय पात्र की उपस्थिति है। भक्ति में अनुपस्थिति में भी उपस्थिति का भाव है। प्रेम में प्रेम पात्र प्रत्यक्ष होने से एक सहारा मिलता है, एक आधार मिलता है, आपके भाव को प्रतिभाव मिलता है। अभिव्यक्ति एवं प्रतिक्रिया, क्रियाओं, प्रश्न एवं प्रत्युत्तर का अवकाश है। भक्ति में तो सबकुछ भावभूमि पर ही खड़ा होता है। किसी भी की उपस्थिति न होने पर भी परोक्ष प्रीतम को चाहना है। वह केवल भक्ति से ही हो सकता है। वह है एक महामिलन, महासंवाद और महाभोग है।

मैं कहूँगी कि प्रेम एक आनंद भी है और एक पीड़ा भी। परंतु भक्ति एक परीक्षा है। उसमें तो पीड़ा ही आनंद है, विरह की ही महिमा है, परोक्ष को ही पूजना है। मिलन की कोई संभावना न होने पर भी भक्त अपने भगवान से एक क्षण भी दूर नहीं होता। ये भक्ति की उच्च भूमिका है।

लौकिक प्रेम के पीछे स्त्री-पुरुष की कामभाव को सहजता से प्रवेश मिलता है। उस काम में कोई अपराध भाव, बद इरादा, जबरदस्ती या हवस को स्थान नहीं होता। वहाँ काम भी प्रेम प्रवाह में परिशुद्ध हो जाता है। ऐसे ही भाव से गौरी शिव की गोदी में बैठी हुई दिखाई देती है। सामान्य रूप से देखा जाए तो गोदी में बच्चा बैठता है और पत्नी बाजु में बैठती है। परंतु प्रेम की पराकाष्ठा में मनुष्य बच्चे जैसा हो जाता है। वहाँ काम पुष्ट अवश्य होता है परंतु प्रेम की छत्रछाया में। और अहंकार पूर्ण रूप से विसर्जित हो जाता है।

पुरुष मानस जब प्रेम की पूर्ण गहराई को समझ लेगा तब भविष्य में ऐसा भी संभव होगा कि पति पत्नी की गोदी में बैठा हो ऐसे शिल्प, चित्र और स्नेह मिलेंगे। मनोवैज्ञानिक वास्तविकता तो यह है कि हर पुरुष बड़ा होकर अपनी पत्नी में माता की खोज करता है। और प्रत्येक नारी पुरुष में एक पिता का चेहरा ढूँढ़ती है। वह धन नहीं चाहती, वह लाड, प्रेम, सुरक्षा, रूठना, मनाना ... ये सब चाहती है; ये सारे लक्षण बच्चे के हैं। अगर पुरुष नारी के रूठने के वक्त अथवा क्रोधित होते वक्त मानूनी नहीं परंतु बच्चे को देखने लगेगा तब विश्व के नर नारियों के आधे झगड़ों का शमन हो जाएगा।

भारत के किसी प्रेमी ऋषि ने ही कहा है कि

भोजनेषु माता शयनेषु रंभा

ये एक अति से दूसरी अति की बात है। यह कोई धार्मिक बात नहीं है, मनोवैज्ञानिक बात है, एक हार्दिक बात है। उपनिषद् का ऋषि भी

एक सन्नारी को आशीर्वाद देते हुए कहता है कि दश पुत्रवती भव-और तेरा ग्यारवां पुत्र तेरा पति बने। क्यों? क्योंकि प्रेम, स्नेह और वात्सल्य ने आपको जन्म दिया है और जिन्दा रखा है। बुढ़ापे में फिर से मनुष्य बच्चे जैसा बन जाता है। तब फिर से उसे वात्सल्य की जरूरत पड़ती है। केवल बुढ़ापे में ही नहीं जवानी में भी भोजन के वक्त माता याद आती है। क्योंकि जन्म के बाद का प्रथम भोजन मनुष्य को माता की ओर से मिलता है। बच्चे के जीवन का पर्याय माता ही होती है। इसलिए पत्नी में माता का दर्शन हो तो इसमें बिलकुल गलत नहीं है। ऐसा होना स्वाभाविक है। हर मनुष्य को इस सत्य का स्वीकार करना पड़ेगा। केवल अहंकारी और मूढ़ लोग इस सत्य को जानने पर भी समझते हुए स्वीकार नहीं करेंगे।

काम के क्षण तो बहुत छोटे होते हैं। जीवों का उत्पादन काम से होता है। जैविक ऊर्जा के अधोगामी स्खलन में काम माध्यम है। परंतु जिंदगी का आनंद तो प्रेम में ही है। बच्चा पैदा करने के लिए एक क्षण ही काफी है परंतु जीवन के संतोष के लिए मनुष्य प्रेम ढूंढता है। प्रेम को स्थाई बनाना चाहता है। प्रेम मनुष्य को एक पूर्ण जीवन का संतोष देता है।

भक्ति परम प्रेम रूप है। नारद भक्ति सूत्र में परम प्रेम को भक्ति कहा है। वहाँ व्यक्ति नहीं है। किसी की उपस्थिति नहीं है। प्राप्ति नहीं है फिर भी सबकुछ है। इसी संदर्भ में मीरा की भक्ति, राधा की भक्ति से श्रेष्ठ और सराहनीय है। राधा ने ज्ञात को प्रेम किया, दृष्ट को प्रेम किया परंतु मीरा ने अदृष्ट को प्रेम किया। इसलिए तो नारद ने भक्ति को 'परम प्रेमरूपा' कहकर बखाना है। तीसरे सूत्र में नारद कहते हैं 'अमृत स्वरूपा'। अर्थात् जो स्वयं अ-मृत है जिसकी कभी मृत्यु नहीं। मीरा मर सकती है उसकी भक्ति, उसकी महिमा, उसका प्रेम, उसके प्रेमगीत और भजन कभी नहीं मर सकते।

प्रेम में अन्य का आधार है परंतु भक्ति परम स्वतंत्र है। इसीलिए तुलसी ने कहा कि

सो सुतंत्र अवलंबन आना, तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना

भक्ति परम स्वतंत्र है। जिसमें दूसरे पर निर्भर रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। वहाँ आपको दूसरा कभी छोड़ नहीं सकता। कभी विदा नहीं होगा। आपके भावजगत में आप जब चाहें तब आह्वान करके आप बुला सकते हो अपने परम प्रिय परमात्मा को अथवा अपने इष्टदेव को।

कोई प्रतीक्षा नहीं, कोई पीड़ा नहीं, कोई आशा नहीं, कोई निराशा नहीं ज्ञान और विज्ञान दोनों भक्ति के आधीन ऐसा क्यों? क्योंकि ज्ञानी और विज्ञानी दोनों प्रेम के बिना अधूरे हैं। ज्ञानी ज्ञान को प्रेम करता है और वैज्ञानिक विज्ञान को। विषय भले अलग अलग हों परंतु केन्द्र में तो प्रेम ही है। ज्ञान को प्रेम किये बिना ज्ञानी ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता और प्रयोगों के प्रेम के बिना वैज्ञानिक विज्ञान तक नहीं पहुंच सकता।

प्रिय साधको!

यहाँ प्रेम को एक विशाल अर्थ में समझने का प्रयास करना। दुनियाँ के टीनेजर जिस प्रेम पर अटक कर भटक जाते हैं वह तो प्रेम की छाया मात्र है। छाया में और वास्तविक मनुष्य में बहुत फर्क होता है। छाया माया है वास्तविकता परमात्मा है।

आकर्षण प्रेम का प्रारंभिक स्वरूप है। परंतु प्रारंभ को अंतिम पड़ाव मान लेने वाले अटक जाते हैं सिर्फ काम वासना पर। काम से अनेक गुनी मूल्यवान अवस्था तक पहुंचना वे चूक जाते हैं। उन्हें बोध तक नहीं है कि ऐसी अवस्था भी हो सकती है। सिर्फ दो प्रकार के मन काम पर अटक जाते हैं। एक आकर्षित मन और दूसरा बौद्धिक मन। आकर्षित मन के आकर्षण के केन्द्र बदलते रहते हैं। वस्तु और व्यक्ति को प्राप्त करने के बाद उसका आकर्षण खत्म हो जाता है। और फिर से नए नए आकर्षणों के पीछे भटकना शुरू कर देगा।

दूसरा है बौद्धिक मन। किसीके लिए फना के फिदा होने की तैयारी बौद्धिक मन कभी भी नहीं कर सकता। वह समर्पण की भाषा ही नहीं समझता। वह मात्र स्वार्थ की भाषा जानता है। ऐसे लोग अपना स्वार्थ पूरा करते रहते हैं, विपरीत लिंग के द्वारा। सजातीय लोग उनसे भी खतरनाक हैं। वे किसी भी प्रकार का खतरा या जिम्मेदारी उठाने के लिए तैयार ही नहीं हैं। ऐसे लोग केवल खाली होना चाहते हैं। ऐसे लोग एक व्यवस्था में मानते हैं। वे अपने मन के आवेग और शरीर का कचरा फैकने की व्यवस्था कहीं भी कर लेते हैं। प्रेम हमेशा अव्यवस्था खड़ी करता है। इसलिए तो अंग्रेजी में कहावत है कि लव इज़ ब्लाइन्ड। प्रेम कभी बुद्धि की आंख से नहीं देखता। दिल तो सीधा कूद पड़ता है खतरे में। जो प्रेम में पड़ते हैं ऐसे लोगों के लिए अंग्रेजी कहती है कि 'फोल इन लव'। यह सही है, प्रेम में हकीकत में गिरना है। ये गिरना एक प्रकार का समर्पण है। यहाँ अहंकार को गिरा देना है। मस्तिष्क को झुका देना है। झुकाना क्या, गिरा ही देना है। जो झुकता है वह खड़ा भी हो सकता है। लव में तो गिर ही जाना है। ये फिदा की भाषा है यह फना की बोली है।

शारीरिक, नैतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक रूप से गिरना नुकसान कारक है परंतु प्रेम में गिरना भी प्यारा है, सुंदर है, प्रेम में गिरने में भी गौरव है। यह तो प्रेम की खुमारी है, यहाँ अच्छे अच्छे गिरे हैं, जले हैं और फिनिक्स पक्षी की भांति भस्मीभूत होकर फिर से जिंदा भी हुए

हैं। एक बौद्धिक चित्त ऐसा नहीं कर सकता। वह तो खुद को बचा बचाकर जीता है। उसके जीवन के केन्द्र में प्रेम नहीं होता, केवल मतलब और सलामती होती है।

कबीर कहता है कि सर काट कर पहले जो धर देता है वही प्रेम के मारग पर चल सकता है। इसीलिए तो संतों ने भक्ति मार्ग को शूरवीरों का मार्ग कहा है। इस मार्ग पर कायर कभी नहीं चल सकते।

आचार्य शंकर जैसे ज्ञानी से भी भक्ति के बारे में कुछ कहे बिना नहीं रहा गया। उसने कहा –

स्वस्वरूप अनुसंधानम् इति भक्ति रीति।

आत्मस्वरूप के साथ अनुसंधान हो जाना ही भक्ति है। अर्थात् संसार के प्रति जो बहिर्मुखता है उससे मुड़कर आत्मचेतना के प्रति अंतर्मुख होकर स्थिर हो जाने को शंकर भक्ति कहते हैं।

मैं कहूँगी कि शंकर जैसे ज्ञानगारूडी भी भक्ति की बात करने के लिए विवश बन जाएँ और भक्तिध्यान में मग्न बन जाए तो औरों की बात अर्थात् परम प्रेमियों की बात तो कैसे करें ?

कबीर एक ज्ञानमार्गी और क्रांतिकारी संतों की परंपरा के संत हैं फिर भी उनसे भक्ति के बिना नहीं रहा गया। उसने कहा –

मैं राम की बहुरिया

अर्थात् स्वयं को समर्पित कर दिया अपने भगवान को एक पतिव्रता नारी की तरह। इतना ही नहीं परंतु गलती से भी अहंकार प्रवेश न कर जाए इसलिए स्वयं को तुच्छ कर दिया और कहा कि

कबीर कुत्ता राम का।

भक्ति के विरह में कबीर कह उठते हैं कि

विरह अगिन तन में तपै अंग सबै जलाय

घट सुना बिन पियु मही मौत दूँढ फिर आय

कबीर के अनुसार जिसके हृदय में परमात्मा के प्रति प्रेम नहीं है और उसके साक्षात्कार के लिए विरह की अग्नि में जो तपता नहीं, जिसके अंग जल जल कर परिशुद्ध नहीं होते, वह धरती पर आ आ कर सिर्फ मृत्यु को ढूँढते हैं।

इसी साक्षात्कार को आचार्य शंकर जैसे ज्ञानी स्वस्वरूप के साथ अनुसंधान कहते हैं। आत्मचेतना के साथ पूर्ण रूप से जुड़ जाना कहते हैं। और सगुण उपासक भक्त किसी सगुण रूप में विलीन हो जाना कहते हैं। हमारे मनीषियों ने उस सगुण के साथ नाता जोड़ने के लिए नौ रास्ते बताए हैं, जिसे भक्ति शास्त्र नवधा भक्ति कहते हैं। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण सेवा, अर्चन, वंदन, दास्य, और सख्य।

प्यारे साधको !

श्रवण भक्ति के बारे में मुझे बहुत कुछ कहना है। श्रवण भक्ति जब समग्रता का रूप धारण करती है तब वह श्रवणध्यान बन जाता है। परंतु यह चर्चा हम श्रवणध्यान में करेंगे। अभी तो मुझे भक्तिध्यान की ही बात करनी है। श्रवणध्यान एक अर्थ में भक्तिध्यान ही है। फिर भी थोड़ा फर्क है श्रवण भक्ति में और श्रवण ध्यान में।

श्रवण भक्ति में भक्त केवल भगवान के गुणगान सुनता है। अपने इष्टदेव का गुणगान उसकी कथा और उसकी लीला का श्रवण करके भाव समाधि में खो जाता है। परंतु यह तभी संभव है जब भक्त विचारशून्य बनकर भगवान की लीला का श्रवण करे। मन को भगवान के गुणगान में स्थिर कर दे। आज कथाएं तो बहुत बढ़ गई हैं, कथाकार भी बहुत बढ़े, श्रोताओं की भीड़ भी सबको मिल जाती है परंतु श्रवण भक्ति में गुणात्मकता घट गई है, भावात्मकता कम हो गई है तथा स्पर्धा और प्रदर्शन बढ़ गया है। वक्ता और श्रोता दोनों ज्यादातर तो कथा के माध्यम से अपने अपने अहं को पुष्ट करते हैं। दिल की पोथी कोई नहीं पढ़ता। सत्य को कहने और सुनने की तैयारी बहुत कम लोगों की होती है। ज्यादातर तो पूजा आरती के लिए पोथी खुलती है और केवल वार्ता-श्रवण होता है। सत्य तो पोथी में बंद ही रह जाता है। अगर कोई सत्य बोलने वाला भी है तो सुनने वाले, सहन करने वाले और उसे पचाने वाले कितने ?

ज्यादातर तो श्रवण करने वाले चार प्रकार के होते हैं। एक तो वक्ता की परीक्षा करना चाहते हैं और वे हमेशा सोचते हैं कि वक्ता हमारी बुद्धि की कसौटी पर सफल जाता है कि नहीं। ऐसे लोग भक्ति क्षेत्र में होते हुए भी भक्ति से अछूते रह जाते हैं। ऐसे लोग भगवान के गुणगान भी अपनी शर्तों से सुनना चाहते हैं अपने ढंग से सुनना चाहते हैं। उन्होंने धारणा बांध ली होती है कि कुछ प्रसंगों में रोना ही है, कुछ प्रसंगों में नाचना है। और अगर वक्ता की शैली बदल गई तो वे लोग चूक जाते हैं। ऐसे लोग भगवान के सही भक्त नहीं होते हैं परंतु भक्ति का भ्रम पालते हैं। वे केवल शब्दों में और वार्ता के दुनयवी भावों में खिंचे जाते हैं, रसों में खिंचे जाते हैं और भगवान से दूर रह जाते हैं।



भक्ति शास्त्र कहता है कि श्रवण भक्ति का अर्थ है, भगवान के गुणगान को सुनना। भक्ति शास्त्र ने ऐसा नहीं कहा है कि अतिशयोक्तिपूर्ण बातों से अभीभूत हो जाना। ज्यादातर कथा-श्रवण अतिशयोक्ति और धनप्रदर्शन के बल पर चल रहा है। भगवान से ज्यादा यजमान और दाता के गुणगान बढ़ जाते हैं। अगर वास्तव में भगवान के सगुण रूप का गुण वर्णन और श्रवण हो तो श्रोता रूपांतरित हो जाता है। क्योंकि प्रभु के गुण प्रभुत्व में प्रवेश करा देते हैं।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि के दायरे में रहकर भगवान को समझना संभव नहीं है। क्योंकि भगवान बुद्धि और मन के पार है। वाणी भी उसका पूर्ण रूप से वर्णन नहीं कर पाती है।

मैं जब कहूँगी कि वाणी भगवान का वर्णन नहीं कर पाती है तब आपको प्रश्न उठेगा कि अगर ऐसा है तो कथा, सत्संग, वक्ता, व्यासपीठ इन सबकी क्या जरूरत है? उन सबकी जरूरत है, क्योंकि वास्तव में वाणी भगवान का पूर्ण रूप से विवेचन करने के लिए है ही नहीं। और वह कर भी नहीं सकती। परंतु भक्ति मार्ग के आचार्यों का कथा, कीर्तन, सत्संग, प्रवचन, श्रवण आदि के माध्यम से निरर्थक बकवास करती वाणी को सार्थक बातों की ओर मोड़ने का एक प्रयास है। भगवान का गुणगान गाना यह एक प्रकार से वाणी का शुद्धिकरण है और प्रभु के गुणश्रवण करना आत्मरूपांतरण के लिए कानों का उचित इस्तेमाल है। कथा श्रवण का अर्थ है चित्त वाणी और कानों को उत्तम मार्ग पर व्यक्त रखना।

भगवान का दर्शन करना ये अदर्शनीय चीजों से आंखों को बचाकर शुभ की ओर, कल्याणकारी तत्व की ओर आँख की ऊर्जा को मोड़ने का प्रयास है। आँखों को संयमित करने का और निरर्थक दृश्य नहीं देखें इसलिए मन को सजग करने का एक आध्यात्मिक उपाय है। हाथ में तस्बी या माला लेकर भगवान के नाम जपने वाले का उस माला के ज़रिए ऐसा होश जगाने का प्रयास है कि जिन हाथों से तू भगवान का नाम जपता है उन हाथों से अनुचित कर्म नहीं होना चाहिए। और उन सारी हकारात्मक क्रियाओं में मन को स्थिर करने की बात तो केन्द्र में है, परंतु जो श्रोता केवल वक्ता की परीक्षा ही करना चाहता है वह तो मूढ़ है। एक बात हमेशा याद रहे कि भक्ति बुद्धि का विषय नहीं है, हृदय का विषय है। हृदय कभी परीक्षा नहीं करता। वह तो भरोसा करता है, श्रद्धा रखता है। केवल बुद्धि ही परीक्षा करती है। जो मनुष्य खुद को भक्त कहलवाता है और चलता है बुद्धि से तो वह दंभी है; या अपनेआप से अंजान। ऐसे लोग गलती से आ जाते हैं भक्ति मार्ग में।

दूसरे प्रकार के श्रोता अपने मन में भगवान संबंधी और भक्ति संबंधी कुछ धारणाएं बना लेते हैं। वे केवल मान्यताएं होती हैं, उनमें कोई तथ्य नहीं होता। आंतरिक रूप से उनका प्रेम का तार प्रभु के साथ जुड़ा हुआ नहीं होता। ऐसे लोग साधु, संत, गुरु और वक्ताओं की सभाओं में जाकर बैठते जरूर हैं परंतु वे केवल अपने विचारों का समर्थन चाहते हैं। उनकी धारणा के अनुरूप वक्तव्य मिलता है तो उसके लिए वह वक्ता श्रेष्ठ है और यदि उसकी मनोधारणा खंडित होती है तो वे वक्ता को विपक्ष में खड़े रह जाते हैं।

ऐसे लोगों की भीड़ से भक्ति का भ्रम बढ़ सकता है, भक्ति की सुवास नहीं। अगर वक्ता ने जरा सी भी क्रांति कर दी, ऐसे लोगों के गलत विचारों का खंडन कर दिया, सत्य के उद्घाटन के लिए कुछ कटु वचन कह दिए तो ऐसे लोगों का मन सही वक्ता के लिए भी निंदा से भर जाता है। ऐसे लोग एक संप्रदाय बढ़ा सकते हैं परंतु सही धर्म में विकसित नहीं हो सकते।

तीसरे प्रकार के श्रोता कुछ बौद्धिक जानकारी इकट्ठी करने के लिए आते हैं सत्संग सभाओं में। ऐसे लोगों का मस्तिष्क अगर वक्ता की वाणी से प्रभावित नहीं हुआ तो वे वक्ता को कमजोर अथवा असफल मान लेते हैं। ऐसे लोगों को क्रेज़ होता है कि धर्म बुद्धिजीवी लोगों के हाथों में होना चाहिए। परंतु ऐसा सोचने वाला बहुत बड़ी गलती कर रहा है।

मैं कहती हूँ कि धर्म आध्यात्मिक लोगों के हाथों में होना चाहिए। धर्म कोई राजनीति नहीं है कि जहाँ बौद्धिक दाव पेचों की जरूरत पड़े। बौद्धिक खेल करने वालों ने ही धर्म का नुकसान किया है। धर्म के मार्ग में तो अपनी आत्मा उंडेल देने वालों की आवश्यकता है। अपने मस्तिष्क को संतुष्ट करने के लिए जो श्रवण करता है वह भक्त हो ही नहीं सकता। ऐसे लोग बैठे बैठे मानसिक कसरत करते रहते हैं। और वक्ता के बारे में बिनचाही, बिनपूछी, बिनजरूरी कोमेन्ट्री देते रहते हैं।

मैं यह नहीं कहना चाहती हूँ कि भक्ति बुद्धिहीन लोगों के लिए है अथवा अबौद्धिक लोगों के लिए है, परंतु भक्ति पराबौद्धिक है। बुद्धि के स्तर पर भक्ति क्षेत्र में प्रवेश करने वाला निराशा प्राप्त करता है। ऐसा मनुष्य पूर्ण तरह से न तो ज्ञान में प्रवेश कर सकता है न भक्ति में। ऐसे लोगों की स्थिति धोबी के कुत्ते जैसी होती है, वे न ज्ञान के रहते हैं न भक्ति के। वे केवल भटकते रहते हैं। उसकी बुद्धि उसके मार्ग में बाधा बनी रहती है। ऐसे लोगों की अगर एक समझ विकसित हो जाए कि प्रेम बुद्धि का विषय नहीं है, हृदय का है तो शायद वे धीरे धीरे हृदय के रास्ते से गुजरकर भक्ति में प्रवेश कर सकते हैं।

चौथे प्रकार के श्रोता सही श्रोता होते हैं। वे केवल अपनी इन्द्रियों को एक सही मार्ग पर अर्पण करना चाहते हैं। वे अपने इष्ट के गुणगान

में तल्लीन रहकर मन की चालबाजियों से मुक्त रहते हैं।

उनका हृदय अपार आस्था और श्रद्धा से भरा होता है और उनकी श्रद्धा के रसायण से उनका विचाररोग मिट जाता है। उसका श्रवण श्रवणध्यान बन जाता है।

नवधा भक्ति में से कोई भी भक्ति ऐसी नहीं है कि जो ध्यान की भूमिका तक न पहुंचती हो।

मैं तो भक्ति का अर्थ ही यह करती हूँ कि विभिन्न प्रकार से अपने प्रिय में तदाकार हो जाना और मन का दिव्य विषय में विलीन हो जाना। भावनाशील हृदय के लिए अपने प्रेम पात्र में विलीन हो जाना आसान बनता है। जिससे प्रेम मार्ग को भारत के मनीषियों ने भक्ति नाम दे दिया। मूल में तो दो ही मार्ग हैं – ज्ञानमार्ग और प्रेममार्ग।

कीर्तन भक्ति में भी और क्या है ? शब्द, संगीत और ताली के ताल के साथ अपने प्रिय के नाम को भावपूर्ण हृदय से बार बार दोहराते दोहराते उसके रूप में खो जाना है। इस भक्ति के आद्य आचार्य हम नारद को कह सकते हैं। जिसने चौबीसों घंटे वीणा अपने हाथ में रखकर चलते फिरते नारायण के कीर्तन को नहीं छोड़ा। भारत में ऐसे कई संप्रदाय विकसित हुए हैं जिनमें कीर्तन भक्ति के माध्यम से हजारों भक्त तैर गए। इसमें प्रमुख दो संप्रदाय प्रकाश में आए। भारत में एक रामानंदी संतों की परंपरा चली जिसने अखंड कीर्तन की महिमा को बढ़ाया। अखंड कीर्तन का अर्थ है – पूर्ण रूप से मन शरीर और आत्मा को राम के कीर्तन में जोड़ देना। कई सारे राम मंदिरों में ‘श्री राम जय राम जय जय राम’ की धुन गूंजने लगी। लाखों भक्त रूपांतरित होने लगे। उस जोश और जुस्से ने भारत के धर्मजगत में नए प्राण फूंक दिए। लोगों के रसायण बदल दिए। वे अपने प्रियतम के लिए प्राण तक न्यौछावर करने के लिए तैयार हो गए। प्रेम में ऐसा ही होता है। सच्चा प्रेमी प्रेमी बदल नहीं सकता है। वह फना भले हो जाए परंतु उसे तलवार नहीं झुका सकती। इसी भावभक्ति का हिन्दु धर्म को जीवित रखने में बड़ा योगदान रहा।

अफसोस की बात यह है कि समय के साथ मनुष्य बदलता रहा। मनुष्य के हृदय की संवेदनाएं और भाव नष्ट होने लगे। मनुष्य धन के पीछे दौड़ने लगा और एक समय पर जहाँ सैंकड़ों लोगों की ‘श्री राम जय राम जय जय राम’ की गूंज से मंदिर नादपूर्ण हो उठते थे उसके स्थान पर अब केवल पुजारी रह गए। मंदिर सूने पड़ने लगे। फिर भी कुछ संतों ने अखंड धुन जारी रखने का प्रयास जारी रखा। परंतु उस धुन में कोई प्राण नहीं थे। गुरु के आग्रह के कारण कुछ तथाकथित भक्त ढोलक मंजीरा लेकर आ जाते थे अपनी ड्यूटी निभाने को, परंतु उसमें कोई आंतरिक भाव और बल नहीं था। फिर लोगों को संकीर्तन बोझ लगने लगा। मैं कई बार कहती हूँ कि जब भक्ति का भार लगे तब समझना कि वह भक्ति नहीं भक्ति का भ्रम है। समय के साथ मंदिरों में अखंड संकीर्तन करना यह एक परंपरा और काम बन गया। भक्ति नहीं रही। फिर परंपरा को निभाने के लिए कुछ लोगों ने एक एक दो दो घंटे की जिम्मेदारी उठाई। और बारी बारी लोग बदलते रहे। क्योंकि लोगों के पास इतना समय नहीं था कि वे अखंड संकीर्तन में बैठ पाएं और जिसके पास समय था उसके दिल में भाव नहीं था।

मैं कहती हूँ कि प्रेम कोई पार्ट-टाईम जॉब जैसा नहीं है। वह तो होता है तो पूरा पूरा होता है नहीं होता तो नहीं होता। उसमें जब मस्तिष्क पार्ट टाईम की व्यवस्था करने जाता है तो मनोतनाव बढ़ता है और आनंद मर जाता है। प्रेम और भक्ति समर्पण और समग्रता का विषय है। समय के प्रभाव में समर्पण और समग्रता अदृश्य होने लगे और फिर तो इस परंपरा को निभाने के लिए कुछ सक्षम मंदिरों ने कीर्तन मंडलियों को भाड़े पर रखना शुरू किया। और भाड़े के लोग श्री राम जय राम जय जय राम का गला खींचते रहे। जिसे मैं कीर्तनभक्ति की अवदशा कहती हूँ। उन भाड़े के लोगों को न राम के लिए कोई प्रेम होता है ना ही संगीत के लिए। उनके लिए तो यह पेट पालने के लिए मजदूरी है। ऐसे लोगों की आवाज़ में शांति, प्रेम, भाव और ध्यान कहाँ से मिल पाएगा ? ऐसी कर्कश आवाज़ें आज भी कई मंदिरों की शांति का भंग कर रही हैं। पैसे और रोटी के लिए गाई जाती ये धुन मात्र ध्वनि प्रदूषण फैलाती है और दर्शनार्थियों को विक्षेप करती है।

गुरु द्वारों में पूरे दिन जो सबद कीर्तन चलता है, यह कीर्तन भक्ति ही है। जिसके द्वारा शब्द के भाव, संगीत के स्वर और आत्मा का समर्पण कीर्तनकार को ध्यान की उच्च अवस्था तक पहुंचा देता है। वर्तमान में गौड मार्ग से दीक्षित इस्कॉन परंपरा जिसका मूल स्रोत चैतन्य महाप्रभु है, जहाँ कीर्तन भक्ति प्रधान है।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। आहलेक जगाकर लाखों लोग इस मंत्र के द्वारा ध्यान में पहुंच जाते हैं। इन लोगों ने एक दूसरा काम भी अच्छा किया और वह है राम और कृष्ण दोनों की विचारधारा का समन्वय। जिससे दोनों धारा के भक्तों के लिए इस्कॉन स्वीकार्य बना।

प्रिय साधको !

प्रेमी भी विभिन्न प्रकृति के होते हैं, और इसीलिए भक्तिमार्ग के आचार्यों को भक्ति को विविध रूप में बांटना पड़ा।

कुछ भक्त ऐसे थे जिन्हें बोलना पसंद नहीं था। वे केवल अपने प्रियतम के गुणगान सुनकर ही समाधी में पहुंच जाते थे। प्रभु के

गुणगान के सिवाय के शब्द सुनना या बोलना यह उनके लिए विक्षेप था। उनकी भाव समाधि का भंग था।

ऐसे भक्त की भक्ति को श्रवण भक्ति की कोटि में रखा गया। जिन भक्तों को प्रभुनाम का कीर्तन करना अच्छा लगता था उन्हें कीर्तन भक्त की श्रेणी में रखा गया और उन्होंने कीर्तन की परंपरा को आगे बढ़ाया। वैष्णव के अष्टछाप के कवि और गवैये क्या थे? परंतु इस भक्ति की मूल महिमा यह है कि साधक कीर्तन करते करते अर्थात् इश्वर का नाम रटते रटते तद्रूप हो जाए। यह अवस्था ध्यान की ही है। कुछ लोग ऐसे थे जो ना नाचते थे ना गाते थे, न कथा कीर्तन सुनने में उसकी विशेष रुचि थी। वे अंतर्मुखी किस्म के भक्त थे। ऐसे भक्तों के लिए उसके प्रियतम का स्मरण करना ही काफी था। अपने प्रभु का स्मरण करने के साथ ही वे डूब जाते थे नशे के सागर में। फिर वे उस सागर में से बाहर आना नहीं चाहते थे, और लगातार स्मरते रहते थे अपने प्रभु को। ऐसे लोगों कोई पागल भी कह देते थे तो कोई मस्तराम। क्योंकि इस अवस्था का साधारण जन को पता नहीं चलता है। कीर्तन और श्रवण में तो पता चल जाता है कि भक्त किसी का नाम गा रहा है, नाच रहा है या किसी का गुणगान सुन रहा है। परंतु स्मरण में तो चित्त हृदय और आत्मा समर्पित हो जाते हैं। इन्द्रियाँ शांत, आँखों में आंसु, न किसी से बात करना, न संसार में ज्यादा रस आना। ऐसी अवस्था को साधारण मनुष्य कैसे समझ पाएगा? श्रीकृष्ण गीता में जिसे जपयज्ञ कहते हैं वह जप साधक के लिए जब बिना किसी आयास प्रयास से हरदम सहज ही स्मरित होता है तब वह स्मरण भक्ति बन जाता है और उत्तम कोटि का ध्यान भी।

प्रेम लक्षणा भक्ति में प्रियतम का विस्मरण मृत्यु है। भक्त अपने इष्ट को एक क्षण भी भूल नहीं सकता। स्मरण भक्ति की अनुभूति में से स्फुरित दो पंक्तियाँ आपके लिए यहाँ देना मेरे लिए अनिवार्य हो गया है –

उसे जो भूलना है तो  
उसी को याद ही ना कर  
अगर जो याद करना है  
तो करले याद जीवनभर।

परमात्मा कोई ऐसा विषय नहीं है कि क्षणिक याद किया और क्षणिक भूल गए। स्वार्थ की नींव पर ही जो खड़ा है ऐसे संसार में कभी किसीको याद कर लेना, कभी भूल जाना, कभी फिर से याद कर लेना और फिर से भूल जाना; ये धोखा चलता रहता है। परंतु परमात्मा के साथ धोखा करने का कोई उपाय नहीं है। साधक का जब परमात्मा में प्रवेश होता है तब सहज स्मरण हो जाता है। फिर वहाँ शब्द, नाम स्मरणोच्चार या तस्बी-माला का कोई स्थान नहीं रहता।

कुछ भक्त सेवक प्रकृति के होते हैं। अपने प्रियतम, इष्ट या स्वामी के चरणों की सेवा ही उसके लिए सर्वस्व होता है। ऐसे भक्त शास्त्र, ज्ञान, ध्यान और उन सबके सार रूप परम सत्य को सेवा के द्वारा ही प्राप्त कर लेते हैं। अपने इष्ट या प्रियतम की सेवा ही उसके लिए सुख और मोक्ष है।

किसीके चरण में बैठना यह कोई साधारण घटना नहीं है। या तो नौकर चरण में बैठता है, कभी कभी स्वार्थी लोग किसी के चरण में बैठकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं या भक्त चरण में बैठता है। आप जब स्वेच्छा से और श्रद्धा से किसीके चरण में बैठ जाते हैं तब आप सामने वाले को अपने से उत्तम घोषित कर रहे हैं। और साथ साथ ये आपके समर्पण की भी घोषणा है।

पहले तो चरण में बैठना ही कठिन है। निम्न से निम्न कोटि के मनुष्य का अहंकार और आदत उच्च कोटि की चेतनाओं के सामने भी कुर्सी, मान, सम्मान और आदर चाहता है। जो मनुष्य ज्ञानी के चरण में नहीं बैठ सकता वह चरण सेवा तो कैसे कर पाएगा। चरण में बैठ जाना यह चरण सेवा का प्रथम सोपान है। आपका किसी संत या ज्ञानी के चरण में बैठना आपको पादसेवन भक्ति तक पहुंचा सकता है। अहंकार को झुकाने का यह प्रथम सोपान है। गुरु या संत के चरणों को दबाना वह आपको भक्ति की साधना के शिखर की ओर ले जा सकता है। आदमी महात्मा के पास जाकर कैसे और कहाँ बैठता है उससे उसकी पात्रता का पता चलता है।

महाभारत में एक प्यारा प्रसंग आता है। महाभारत के युद्ध की तैयारियाँ चल रही थीं। दुर्योधन और अर्जुन दोनों कृष्ण की मदद चाहते थे। इत्तफाक से दोनों एक साथ कृष्ण के पास आए। उस वक्त कृष्ण सोए थे। अर्जुन कृष्ण का मित्र होते हुए भी भक्त कक्षा का था और दुर्योधन पूर्वग्रह, द्वेष और अहंकार से भरा हुआ एक राजा। दुर्योधन कृष्ण के मस्तक के पास बैठा। श्री कृष्ण अर्जुन के लिए केवल मदद करने वाला एक राजा नहीं थे परंतु योगेश्वर थे। वह जान चुका था कृष्ण की आत्यंतिक क्षमता को; वह चरणों में बैठा।

चरणों में बैठने का अर्थ यह होता है कि खुद में और सामने वाली चेतना की ऊंचाईयों में कितना फर्क है इसे भलि भांति जानना। चरण में बैठने का अर्थ है नीचे बैठकर ऊपर से ऊर्जा और आशीर्वाद प्राप्त करने का अवकाश रखना।

कृष्ण जागे, उनकी दृष्टि सीधे अर्जुन पर पड़ी। कृष्ण ने कहा, स्वागत है धनंजय! कब और किस प्रयोजन से आए हो? तब सहसा

दुर्योधन बोल उठा कि वासुदेव! पहले मैं आया हूँ, तो कुछ मांगने का अधिकार पहले मेरा बनता है। तब कृष्ण ने कहा कि पहले कौन आया था वह गौण है, मेरी दृष्टि पहले किसपर पड़ी यह महत्वपूर्ण है...

पूरा विश्व जानता है अर्जुन ने अपने पक्ष में कृष्ण को मांग लिया और युद्ध में विजय प्राप्त की।

जो चरण मैं बैठ सकता है उसे ही महापुरुषों की कृपा दृष्टि प्राप्त होती है। भक्त भगवान को ही मांग लेता है। भगवान से कम उसे कुछ भी नहीं चलता। जब स्वार्थी मनुष्य भगवान की शक्तियों का इस्तेमाल करना चाहता है वह भगवान को नहीं चाहता।

मैंने कहीं लिखा है—

तू साधु संत सूफी  
औलिया के पांव में गिर जा  
उसीकी चाकरी कर ले  
उसीका तू गुलाम हो जा।

मजबूरन कोई साधारण आदमी की चाकरी करना गुलामी है। और स्वेच्छा से गुरु अथवा आत्मनिष्ठ आत्मा की गुलामी करना एक अवसर है।

कुछ भक्त महापुरुषों की चरणसेवा करते करते ज्ञान को उपलब्ध हो गए हैं। और ज्ञानी भक्त ज्ञान ध्यान और योग को छोड़कर ज्ञानी पुरुषों की चरण सेवा में लग गए हैं। ज्ञानी ज्ञान से बड़ा है। क्योंकि वह ज्ञान का स्रोत है। उसके द्वारा ज्ञान जन्म लेता है, प्रकाशित होता है और प्राप्त भी होता है।

हनुमान के पात्र को कौन नहीं जानता। हनुमान के लिए शास्त्र कहते हैं कि

ज्ञानीनां अग्रगण्यम् बुद्धिमतां वरिष्ठम्।

वे ज्ञानियों में अग्रगण्य और बुद्धिमानों में श्रेष्ठ थे। परंतु उन्होंने चरण सेवा की महिमा जान ली थी। राम के रामत्व को पहचान लिया था। जब जब हनुमान प्रभु के चरण दबाते थे तब प्रभु शांत निद्रा में प्रवेश करते थे। साधारण मनुष्य में निद्रा प्रवेश करती है परंतु ज्ञानी निद्रा में प्रवेश करता है।

भगवान विष्णु का चित्र आपने देखा होगा। विष्णु की कल्पना जब भी आती है तब लक्ष्मी को याद नहीं करना पड़ता। भारतीय ऋषिओं ने और शिल्पकारों ने क्षीरसागर में शेषसैया पर विराजित विष्णु का ऐसा चित्र खींचा है कि वहाँ लक्ष्मी विष्णु का अनिवार्य अंग बन गई है। और कल्पना करते ही चरणों में बैठकर भाव से चरण सेवा करती हुई लक्ष्मी भी विष्णु के साथ दृष्टिगोचर होती है। उस चित्र में से अगर लक्ष्मी को निकाल दिया जाए तो विष्णु अधूरे हो जाएंगे। इसका अर्थ यहाँ ऐसा नहीं है कि नारी के बिना नर अधूरा है, क्योंकि विष्णु को हम मनुष्य के रूप में देखते ही नहीं हैं। भगवान के रूप में ही देखते हैं। और भगवान कभी अधूरे नहीं होते। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर सब अपने आप में परिपूर्ण हैं। परंतु भगवान की धारणा से स्वीकृत विष्णु चरण दबाती लक्ष्मी के बिना अधूरे लगते हैं, क्यों? क्योंकि भक्त के बिना भगवान अधूरे हैं। रत्नागर कन्या, त्रैलोक्य सुन्दरी और राजा और रंक की स्वामिनी तथा असुरों की बहन लक्ष्मी भगवान की चरण सेवा करते करते भगवान से भी आगे निकल गई। लोग लक्ष्मी-नारायण कहते हैं। इस रूपक से एक दूसरा अर्थ भी अभिप्रेत होता है। जो लक्ष्मी भगवान की सेवा में होती है वही लक्ष्मी धन्य, पूजनीय और सार्थक है।

कुछ भक्त अपने प्रियतम का पूजन करके उसे सन्मान और आदर करके तैर गए हैं। ऐसे भक्तों ने जान ली होती है अपने इष्ट की गुणवत्ता को। अपने प्रभु की आंतरिक अवस्था को। उस पूजा को कुछ अज्ञानी और अहंकारी लोग व्यक्ति पूजा कहते हैं परंतु भारत ने तो पत्थरों को भी पूजा है। यह भारत की विशेषता है, अति उदार आध्यात्मिक दृष्टिकोण है।

मैं कहती हूँ कि अगर कोई भक्त अपने गुरु अथवा प्रिय पात्र या किसी महात्मा की पूजा करते हैं तो उसकी कटु आलोचना करना मूढ़ता है।

मेरा स्पष्ट मत है कि पत्थर से मनुष्य विशेष जीवंत है। पत्थर अथवा मूर्ति केवल अतीत का स्मरण है। और जीवंत चेतना एक वास्तविकता है, एक वर्तमान है। अतीत से वर्तमान हमेशा शक्तिशाली होता है और इसीलिए आलोचक जिसे व्यक्तिपूजा कहते हैं उस परंपरा को हटाना या नष्ट करना करीब करीब असंभव है। हाँ, किसी व्यक्ति के द्वारा अपनी पूजा कराने का आग्रह रखना मूढ़ता है, दंभ है। परंतु जब कोई भक्त अपने गुरु या ज्ञानी पुरुष का आदर करे, उसका सम्मान करे, उसकी पूजा करे तो भक्त का मन रखने के लिए भी ज्ञानी को उसके प्रेम का स्वीकार करना भी एक प्रकार का प्रेम है। प्रेम का स्वीकार प्रेमी ही कर सकता है। अ-प्रेम में जीने वाला व्यक्ति न किसीको प्रेम दे सकता है



ना किसीके प्रेम का स्वीकार कर सकता है। जब आप किसीके प्रेम का, आदर का, सम्मान का स्वीकार करते हैं तब सामने वाले व्यक्ति का हृदय धन्यता का और आनन्द का अनुभव करता है। अस्वीकार करने से किसीका दिल टूट सकता है। हाँ, संत और गुरु को इतना जाग्रत रहना चाहिए कि सम्मान का स्वीकार करते करते उसकी लत न लग जाए।

जब मान सम्मान प्राप्त करना एक आदत बन जाती है तब समझना कि अजाग्रति का प्रारंभ हो रहा है और ऐसी अजाग्रति के कारण किसी जगह पर सम्मान न मिलने से या अपमानित होने से विषाद पैदा होता है। और यह स्थिति अच्छे अच्छों को शक्तिहीन और तेजहीन बना देती है। परंतु साक्षी भाव के साथ किसीकी पूजा आदर और सम्मान का स्वीकार करना यह दूसरे के प्रेम का सम्मान करने का ही एक भाग है।

कुछ भक्त अपने इष्ट के सेवा, पूजा, आरती में मग्न रहकर प्रसन्न रहते हैं। ऐसा करने से उसे अजीब प्रकार का संतोष प्राप्त होता है। वह संतोष उसे आनंदित रखता है। उसे बदल देता है। ज्ञान हो या भक्ति, दोनों मनुष्य को रूपांतरित करने के मार्ग ही हैं। सेवा पूजा करते करते जब साधक अपने इष्ट में तल्लीन हो जाता है तब वह ध्यान बन जाता है। और वह ध्यान ही रूपांतरण की क्षण होते हैं। फिर भी भक्ति मार्ग में अर्चन भक्ति के लिए मेरे हृदय में से कुछ पंक्तियाँ स्फुरित हुई हैं। मुझे लगता है कि ये पंक्तियाँ भगवान की सेवा पूजा पाठ करने वाले भक्तों को एक विशेष दृष्टि दे सकती हैं। सेवा पूजा में जबतक समग्रता नहीं आती है तब तक वह एक क्रिया आदत अथवा टाइमपासिंग बन जाता है। अजाग्रति में होते हुए पूजा पाठ कभी कभी दंभ का रूप भी धारण कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में साधक पूजा पाठ करते हुए भी पथभ्रष्ट होता रहता है। पूजा में समर्पित होने की जगह उसका मन पूजा के नाम से खुद के साथ घर और परिवार के साथ खिलवाड़ करता रहता है। अज्ञानवश ऐसी पूजा प्रदर्शन और मनोग्रंथियाँ पैदा करती हैं।

फूल चढ़ाया भोग लगाया मंदिर में जीवन को गंवाया

मानव तुमने मन को मनाया, ना सोचा क्या भीतर हो ?

मैंने ऐसे पूजा पाठ करने वालों को देखा है कि वे एक प्रकार के मनोरोग से पीड़ित होते हैं। वहाँ भक्तिभाव के स्थान पर दिखावा बढ़ जाता है। ऐसे लोग किसीको देखकर ज़ोर ज़ोर से पाठ करने लगते हैं। उनके लिए शुद्धिकरण की व्याख्या सिर्फ जल का व्यय करना होता है। पूजा पाठ नहीं करने वालों को वे पापी अथवा हीन समझते हैं। और स्वयं को महान। ऐसे मनोरोगियों का इलाज दुनियाँ का कोई मनोवैज्ञानिक नहीं कर सकता। करुणा की बात तो यह होती है कि उन्हें पता तक नहीं होता कि उनका पूजा पाठ एक फोबिया है। आत्मनिष्ठ ज्ञानी और ध्यानी आत्मा भी ऐसे बीमारों की मदद नहीं कर सकती। ऐसे लोग दंभरोग से पीड़ित होते हैं। उन्हें खुद को ठगने की आदत हो गई है तो बेचारी दुनियाँ तो क्या ? तिलक, माला, और सांप्रदायिक बातों पर ही उसके ज्ञान और भक्ति की सीमा आ जाती है। ऐसे ढोंगियों की पूजा से, अभिषेक से और पुष्पों से भगवान कैसे प्रसन्न होते ?

चढ़ा दे अक्रीदत के फूल  
तू दुनियाँ के दाता को  
तेरे अश्वके नमों से  
उस प्रीतम के पांव को धो ले।

तू बरसा प्रेम इतना कि  
सनम जी स्नान को कर ले  
चढ़ा दे भोग तेरी भावनाओ का  
प्रसादी बाँट।

तुझे ही ओढ़ ले और पहन ले  
ऐसी इबादत कर  
कोई दर्शन जो चाहे तो  
तेरे ज़रिए ही हो जाए।

प्यारे साधको !

जब इतनी समग्रता के साथ प्रियतम की सेवा पूजा होने लगती है। तब क्रिया भक्ति छूट जाती है और पूर्ण भक्ति का उदय होता है।

कुछ लोगों ने झुकते झुकते झुकना सीख लिया। और फिर ऐसे झुके कि अपने स्वामी के सामने फिर सर उठाने का भाव मन में आया ही नहीं। सर उठाने का अर्थ ऐसा नहीं है कि वंदन की मुद्रा में से खड़ा नहीं होना, परंतु सर उठाने का मतलब सिर्फ इतना ही है कि अहंकार का जागना।

वो सिज़्दा क्या रहेगा होश  
जिसमें सर उठाने का  
इबादत और बरकदे होश!  
तौहीने इबादत है।

कुछ लोग प्रभु के चरणों में ऐसे झुक गए कि फिर कभी वहाँ से दूर जाने का मन नहीं हुआ। वंदन का अर्थ संप्रदायों ने और सामाजिक शिष्टाचार ने बहुत औपचारिक बना दिया है। क्षणिक ओढ़ा हुआ वंदन ढोंग बन जाता है। सच्चा वंदन हमेशा के लिए वंदन बना रहता है। इसी बात को मेरे शब्दों में कहूँ तो –

रट रट के तेरा नाम मैं  
तेरी हो गई  
गा गा के तेरी गीत में  
तुझमें खो गई।  
झुक झुक के तेरे कदमों में  
वंदन में हो गई।  
जल जल की तेरी याद में  
चंदन में हो गई।

मैं कहती हूँ कि वंदन के लिए आपको किसी व्यक्ति या मूर्ति की भी जरूरत नहीं, जरूरी ये है कि आप का वंदन सही वंदन हो।

तू सिज़्दा बार बार कर ले  
वो हर ज़र्रे में बैठा है  
कोई मंदिर और मस्जिद का  
मोहताज ना हो तू।

प्यारे भक्तों!

वंदन भक्ति जब अपने अंतिम शिखरों को छू लेती है तब भक्त अपने प्रियतम को कण कण में देखता है। वहाँ मूर्तियों का बंधन छूट जाता है, धारणाएं खत्म हो जाती हैं। आप जिस दिशा में झुकते हो वहाँ प्रभु प्रगट हो जाते हैं। एक ऐसी अवस्था में ही संत तुलसी ने लिखा होगा –

सिया राम मय सब जग जानी,  
करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी।

प्रत्येक धर्म में वंदन भक्ति को स्वीकारा है। इस्लाम, हिन्दु को बुतपरस्त कहता है क्योंकि हिन्दु मूर्तिपूजा में मानते हैं। बुत का अर्थ होता है-मूर्ति। हिन्दु मूर्ति के सामने झुकता है। हिन्दु शास्त्र में साष्टांग दंडवत प्रणाम की बहुत बड़ी महिमा है। परंतु मस्जिद में मूर्ति नहीं होने पर भी मुसलमान वहाँ जाकर झुकते हैं। क्यों? क्योंकि संतों ने मनुष्य को झुकने की धारणा दी है। झुकना सिखाने के लिए वंदन की एक विधि दी है। फिर भी मैं कहती हूँ कि केवल शरीर से झुकना यह तो वंदन की एक घोषणा मात्र है। वंदन में मस्तक झुकता है, इसका विशेष अर्थ इतना ही है कि परमात्मा के सामने, गुरु के सामने, ज्ञानी पुरुष के सामने या संत के सामने अहंकार और बुद्धि की कोई जरूरत नहीं है। इन दोनों को समर्पित करने के बाद ही मनुष्य अध्यात्मिक मार्ग पर विकसित हो सकता है। मस्तक को झुकाने का अर्थ है – मन, मति और अहंकार का समर्पण। और जहाँ झुक रहा है उसकी भगवद्गता का स्वीकार। परंतु मंदिर मस्जिदों में मनुष्य ने वंदन को क्रियात्मक बना दिया। उसकी भावात्मकता खत्म होती गई। तब ऐसे वंदन से मनुष्य को मदद मिलना बंद हो गई। मंदिर और मस्जिद के वंदन का सूक्ष्म अर्थ है, साकार और निराकार दोनों को समर्पित होना।

प्रिय साधको !

नवधा भक्ति में दास्य भक्ति की महिमा भी अपार है। दास्य भक्ति का अर्थ है, किसीकी दासता का स्वीकार कर लेना। भावनात्मक दासत्व का जन्म कह होगा ? यह बात जरा समझने जैसी है।

जीव मात्र एक स्वतंत्र इकाई है और उनमें भी मनुष्य कुदरत का श्रेष्ठतम सर्जन है। बुद्धिजीवियों ने मनुष्य को एक बौद्धिक प्राणी कहा है। मन पर से मनुष्य शब्द आया है। किसीने मनुष्य को सामाजिक प्राणी भी कहा है। इन सब व्याख्याओं का अगर एक अर्थ निकालें तो हम कह सकते हैं कि मनुष्य के पास सबसे बड़ा मन, सबसे ज्यादा बुद्धि और समान हक प्राप्त करने की भावना होती है। समाज में अपना अधिकार स्थापित करने के लिए वह मन और बुद्धि से ज्यादा से ज्यादा काम लेता है। जहाँ इच्छाओं से भरा मन और इच्छाओं को पूरी करने के लिए बौद्धिक नीतियाँ अपनाई जाती हों, ऐसा मनुष्य किसी का दास नहीं बन सकता।

इतिहास पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि जिन जिन प्रजातियों को दास बनाने की कोशिश की गई है वहाँ कुछ समय के बाद उस दासता की लघुताग्रंथि में से ही स्वतंत्रता की पुकार उठी है और अनेक प्रकार के आंदोलन, गदर, युद्ध और रक्त की नदियाँ बही हैं।

परंतु जब किसी मनुष्य अपने इष्ट या किसी महापुरुष का दास बन जाता है तब इसका अर्थ है, वह दुनियाँ की दासता छोड़कर, संसार की गुलामी छोड़कर परम स्वतंत्र बनने के लिए एक विधि में से गुजर रहा है।

भक्ति एक मार्ग है, भक्ति करते करते भक्त की भगवान से एकरूपता हो जाना यह मंजिल है। हालांकि भक्त कभी भगवान बनना चाहेगा नहीं। उसको तो प्रभु की दासता में ही, सेवा में ही, समर्पण में ही पूर्णता का अनुभव होता है। परंतु न चाहने पर भी एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि जहाँ भक्त और भगवान के केवल नाम और रूप अलग रहते हैं परंतु तत्त्व रूप से दोनों एक हो जाते हैं।

भारत में एक कथा प्रचलित है। कोई हनुमान से पूछता है कि कहाँ हैं तेरे सीता-राम ? तब हनुमान कहते हैं कि मेरे दिल में है, तब किसी ने कहा कि अगर यह सत्य है तो छाती चीर के हमको बता। उसी क्षण हनुमान ने अपने नाखूनों से अपनी छाती चीरकर सीता-राम का दर्शन करा दिया।

मैं कहती हूँ कि अगर भक्त और भगवान अलग होते तो ऐसा संभव नहीं होता। इस कथा का हार्द ही इतना है कि तत्त्व रूप से भक्त और भगवान अलग नहीं हैं। प्रेम मार्ग ही ऐसा है कि वहाँ दासत्व भी आनंद और गौरव देता है। जब कोई किसीका दासत्व स्वीकार कर लेता है तब वह कितना भी बड़ा हो परंतु वह दास बनकर जाहिर करता है कि अब मैं कुछ नहीं हूँ। यह कुछ न होने का भाव ही साधारण मनुष्य को भी भक्त की कोटि में रख देता है। दास्य भाव से स्वयं को अति साधारण अथवा तुच्छ बनाकर भक्त भगवान के लिए असाधारण बन जाता है।

कभी कभी कुछ साधकों की क्षमता ऐसी होती है कि वह ज्ञानी आत्माओं से, अवतारी पुरुषों से या अपने इष्ट से मैत्री का भाव रख लेता है। और इसे नवधा भक्ति में सख्य भक्ति कहा गया है। यह भी साधक ने बनाई हुई अपने चित्त की एक धारणा ही है, परंतु वह धारणा उसे प्रभु के निकटतम जाने के योग्य बना देती है। इसमें भी प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार होते हैं।

अर्जुन, गोपी, ग्वाल-बाल वे श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष परिचय में थे और अपने प्रिय के साथ उनकी मैत्री गाढ हो गई। और कुछ लोगों ने अपने प्रिय को देखे बिना उसके प्रति भाव बना लिया अपने मित्र का। परंतु वह मैत्री भक्ति की कक्षा की थी।

पुराण में एक कथा आती है- दम नाम के राजा ने काशी में दसहजार वर्ष तक शिव की उपासना की। उसने न कभी शिव को देखा था, ना ही कोई विशेष परिचय था। परंतु हृदय में मैत्री भाव था। केवल मित्रता और सख्य भक्ति में थोड़ा फर्क होता है। साधारण मैत्री में किसी को भजने का या उपासना का भाव नहीं होता है। जब कि सख्य भक्ति में प्रभु के साथ किसी भी प्रकार का अंतर नहीं होने पर भी हृदय में मित्र के उपरांत इष्ट देव का भाव होता है। और यह भाव साधक को रूपांतरिक कर देता है। ऐसा भाव किसी संत और ज्ञानी पुरुष के साथ भी हो सकता है।

कुबेर के सामने जब शिव प्रगट हुए और प्रसन्न होकर कुछ मांगने को कहा तब कुबेर ने कहा कि आप मेरी अल्कापुरी के निकट आपका धाम बनाकर रहो और मैं आपका निकटतम मित्र रहूँ, और शिव ने ऐसा किया। उसका ध्येय था शिव को प्राप्त करने का। परंतु उसका मार्ग था सख्यभक्ति। ईश्वर प्रेम रूप है, किसी भी मार्ग से, किसी भी रूप में वह आपके प्रेम को कबूल कर लेता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रेमरूप बनना।

प्रभु के दोस्त बनने का अर्थ इतना ही है कि आप ऐसा दृढ भरोसा कर लो कि मैं कोई ऐसे वैसे का दोस्त नहीं हूँ परंतु मैं सर्वशक्तिमान का मित्र हूँ। आपका मन जब ऐसी दृढ धारणा बना लेता है तब दूसरी धारणा भी अपनेआप बन जाती है कि अगर ज्ञानरूप, प्रेमरूप और सत्यरूप सर्वशक्तिमान मेरा मित्र है तो मुझे चिंता कैसी ?

मेरा यार बादशाह, मुझे कोई गम नहीं।

और यह मनोविज्ञान आपके रसायनों को धीरे धीरे बदलता जाता है, आस्था बढ़ने लगती है, मन तनावमुक्त हो जाता है, एक दोस्त जैसे दूसरे दोस्त के सामने खुलता है वैसे ही आप भगवान के सामने आपकी सारी बातें खोलकर रख देते हैं।

यह एक प्रकार से मॉनोलोग होने पर भी डायलोग है। आप अंदर ही अंदर ये सब बातें करते हैं। फिर भी एक अज्ञात के साथ संवाद हो रहा होता है। और यह श्रद्धा, आस्था और प्रेम आपके पात्र को विशेष रूप से जीवंत कर देता है। आपके रसायन बदलने लगते हैं। आप विशेष प्रसन्न और ऊर्जावान होते जाते हैं। आपकी ऊर्जा प्रसन्नता और श्रद्धा के कारण सही दिशा प्राप्त करती है और प्रश्नों का समाधान होने लगता है।

ऐसी दोस्ती, मैत्री, यारी किसी प्रत्यक्ष के साथ हो या परोक्ष के साथ परंतु बड़ी पावन है। ऐसी यारी के बारे में मैंने कही कहा है कि -

यारी है मक्का मदीना  
यारी काबा तूर है  
यारी काशी मथुरा  
यारी मेरा नूर है।  
धड़कनों की तस्बी से  
ये दिल सुमिरता यार नाम  
इन्ताजारे यार तेरा  
बंदगी सिज़दा सलाम।  
जिस्म है मंदिर मस्जिद  
जी में आए सो कहो  
बैठकर उसमें पुकारं  
यार तुझको सुबह शाम।  
यारी है झमझम का झरना  
यारी है जमुना का जल  
आब गंगा का है पावन  
ये सभी तीरथ का फल।

परंतु स्वार्थी मनुष्य भक्ति को अथवा ऐसी यारी को नहीं समझ सकता। ऐसे लोग इन सारी बातों को मूर्खता अथवा पागलपन कहते हैं। क्योंकि उन्हें केवल स्वार्थ और संसार का ही बोध होता है। वे केवल बुद्धि से जीने वाले होते हैं। और ऐसे लोग आत्मगत अनुभूतियों से हमेशा के लिए वंचित रह जाते हैं। मतलबी लोग दोस्ती भी हिसाब किताब और मतलब से करते हैं। मतलब पूरा होते ही उसकी दोस्ती भी खत्म हो जाती है। ऐसे लोग हमेशा दूसरे को आंझने की कोशिश करते रहते हैं।

मैं कहती हूँ कि जो लोग बीवी, बच्चे और परिवार के नहीं हो सकते हैं ऐसे लोगों भगवान के कैसे हो पाएंगे ? उन लोगों का सर्वस्व केवल धन होता है।

भक्ति विषयक मेरी बातों को सुनकर कभी कभी कुछ लोग मुझे पूछ लेते हैं कि हम सब यह कैसे कर पाएंगे ? हम तो पापी हैं, हम कैसे जा पाएंगे ईश्वर के निकट ? ऐसे लोगों को मैं कहती हूँ कि आप जिसे पाप कह रहे हैं वह केवल एक आवरण है, वह आप पर जमा हुआ मैल है। आप पापी नहीं हैं; आपके ऊपर मैल की परत जम जाने से आपको और दुनियां को आप पापी दिखते हैं। जिस आइने पर धूल जम जाती है, ऐसा आइना भी काला दिखता है। मिट्टी हट जाएगी तो परमात्मा प्रतिबिम्बित होने लगेंगे। और आपका अपराधभाव दूर हो जाएगा। आप कहेंगे कि मिट्टी हटेगी कैसे ? आइना खुद अपने पर लगी हुई मिट्टी को नहीं हटा सकता। ज्यादातर लोगों का ऐसा ही होता है।

मैं कहती हूँ कि चले जाओ किसी संत, ज्ञानी, या सत्यवचन के चरणों में; वे आपकी मिट्टी को हटा देंगे। हो जाओ समर्पित, समर्पण से आपका मैल धुल जाएगा। इस संदर्भ में मैंने कहीं कहा है-

तु खुल के सामने आ जा  
सनम से कर नहीं परदा  
तेरे खाविंद को हर खूबी-



कमियों का पता होगा।

तू तौबा कर तू तौबा कर  
तेरी गुनाह छोटे हैं  
सनम दातार है उदार है  
सब भूल जाएगा।

तू बनके दोस्त बाहों में  
तेरे महबूब को भर ले।  
तेरे संग नाच सकता है  
अगर गोपी तू बन जाए।

वो तेरा राहबर बनके  
चलाएगा तेरे रथ को  
लड़ेगा भी वो तेरे वास्ते  
सुकून का दरिया।

न सर पे ढो के तू फिरना  
पिटारा अपने पापों का  
उसे तू फेंक दे  
इक पल में वो सब खाक कर देगा।

प्रिय साधको !

भक्ति का नौवा प्रकार है, आत्मनिवेदन। आत्मनिवेदन का अर्थ है न्यौछावर हो जाने के लिए अपने प्रिय के सामने प्रस्तुत हो जाना। एक अर्थ में यह अवस्था ज्ञानावस्था ही है। जब तक शरीर का मोह होता है तब तक कोई किसी के लिए फना कैसे हो जाएगा। जब भक्त फिदा होने के लिए तैयार हो जाता है तब समझना कि भक्ति के द्वारा ज्ञान का जन्म हो गया। भक्ति ज्ञान और वैराग्य की जननी है। वैराग्य का अर्थ है इच्छामुक्ति और ज्ञान का अर्थ है निरासक्ति, मोहमुक्ति। हिन्दु जिसे आत्मनिवेदन कहते हैं उसे मुस्लमान कुरबानी कहते हैं। परंतु स्वयं को कुरबान करना यही सच्ची कुरबानी है।

मैं कहती हूँ कि—

अगर करनी है जो जेहाद  
खुद के सामने कर ले  
मिट्टा दे ऐब सारी तू  
उड़ा दे सर अहेमयित का।

कोई हिन्दू या मुस्लिम सिख  
ईसाई को तू ना देख  
तू पहले जान ले तेरा  
धर्म क्या है यह जीवन में ?

जो बंदा सच्चा होगा तो  
बहाएगा न हरगिज़ खून  
कत्लेआम करना ये तो  
शैतानो की दुनियां है।

चढ़ा दे तू बलि  
हैवानियत जंगलियत की सुन  
किसी मासूम को करते हलाल  
ना शर्म आती है ?

प्यारे साधको !

आत्मनिवेदन भक्ति में जो कुरबानी होती है ये धर्म के नाम पर राजनीति खेलने वाले चंद सत्तापिपासुओं के द्वारा फैलाई गई हिंसा का हिस्सा नहीं होता। वह तो अपने परमात्मा के नाम पर निर्भय होकर स्वेच्छा से स्वयं को प्रस्तुत कर देने की बात है।

पुराण में योगी भरत की आत्मनिवेदन भक्ति का एक प्यारा दृष्टांत मिलता है। भारतवर्ष का एकमात्र सम्राट, चौबीस अवतारों में से एक ऐसे ऋषभदेवजी का सबसे बड़ा पुत्र और ध्यान धर्म प्रिय राजा भरत दस हजार वर्ष नितिपूर्ण राज्य संचालन के बाद सन्यास ग्रहण करके वन में जाता है। वहाँ अहिंसा की रक्षा के लिए एक मृग शावक के मोह में पड़ जाता है। परिणाम रूप अंतकाल पर मृगशावक का स्मरण होने से स्वयं को मृग के गर्भ से जन्म लेना पड़ता है। परंतु साधना बल के प्रभाव से पूर्व जन्म का स्मरण रहता है। पूर्व का अपना योगी जीवन याद करता हुआ और अपनी मृगासक्ति पर पश्चाताप करते हुए राजा कुछ ही समय में मृग शरीर से मुक्त होता है। और एक ब्राह्मण के घर वह पुनः जन्म धारण करती है। वहाँ वह प्रतिपल सचेत और जाग्रत रहता है। संसार से उदास और निरासक्त होने के कारण उसे पागल मानकर घर के लोग निकाल देते हैं। योगी भरत जंगल में घूमता हुआ अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। शास्त्र कहता है कि वह योगी शक्ति का भक्त था। एक बार किसी शूद्र राजा के सैनिक उसे पकड़कर चंडिका को मानव बलि चढ़ा देना चाहते हैं। योगी भरत किसी भी प्रकार का प्रतिकार न करते हुए स्वतः चल देता है, समर्पित हो जाने के लिए। और माता चंडी के सामने आकर स्वयं को प्रस्तुत करता हुआ मन ही मन कहता है कि हे माँ! तूने आज इस शरीर रूपी अंतिम बंधन से मुझे मुक्त करने के लिए कितना श्रेष्ठ निमित्त खड़ा किया! एक भक्त अपनी इष्टदेवी के लिए आत्मनिवेदन करके इस जगत से मुक्त हो जाए इससे श्रेष्ठ अन्त क्या हो सकता है? फिर कथा आगे बढ़ती है। देवी प्रगट होती है, सैनिकों का अपने खड्ग से वध करती है और योगी भरत पर वात्सल्य और आशीर्वाद बरसाती है। परंतु चंडी के प्रगट होने के बाद क्या हुआ? इससे मेरा कुछ लेना देना नहीं है। चंडी का प्रगट होना या ना होना यह एक समर्पित भक्त के लिए गौण था। परंतु उसका आत्मनिवेदन कर देना यही महत्वपूर्ण बात थी। वहाँ कोई गणित नहीं था, कोई आशा नहीं थी, कोई अपेक्षा नहीं थी अपने भगवान से कि वह प्रगट होकर मुझे बचा लेंगे। वहाँ तो आत्मनिवेदन में ही उसकी सार्थकता थी। निर्भयता के साथ स्वयं को समर्पित कर देना वही साधना का साफल्य था। मेरी दृष्टि से बात यहाँ ही खत्म हो जाती है। पुराणकार को कथा को आगे बढ़ाना पड़ा क्योंकि पुराण कथा की श्रृंखला को बनाए रखने के लिए कथा को आगे बढ़ाना अनिवार्य था। पुराण का विकास करने के लिए यह सब जरूरी था। परंतु मेरे लिए यहाँ केन्द्र में पुराण नहीं है। इधर केन्द्र में है भक्तिध्यान। साधक की भक्ति जब ध्यान की अवस्था प्राप्त कर लेती है तब वहाँ उसे करने वाला बचता ही नहीं। सिर्फ साध्य ही रह जाता है। साध्य सिद्ध हो जाने के बाद साधन का कोई मोह नहीं रहता है। साधक साधन को प्रस्तुत कर देता है श्रद्धेय के चरणों में।

मंसूर का ज्ञान भी ध्यानावस्था में ही जन्मा था। एकांत में साधना करते करते एक क्षण ऐसा आया कि उस क्षण में मंसूर अदृश्य हो गया और केवल अल्लाह बचा। जिसे हम अहं ब्रह्मास्मि कहते हैं। अहं ब्रह्मास्मि का अर्थ है – मैं ही ब्रह्म हूँ। मंसूर ने भी यही कहा। फर्क इतना हुआ कि भारत के ऋषि ने जब ध्यान में बैठकर रूपांतरित होकर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी घोषणा की तब उसको सिद्ध पुरुष में स्थान दिया गया। ज्ञानी के रूप में उसको भारत ने सम्माना। उसका अनुभव वेद वचन बन गया सत्य वचन बन गया। और हजारों लोग उसके समान अनुभूति करने के लिए साधनाभिमुख हुए। क्योंकि भारत के पास एक उदार चित्त था और है। परंतु यही अनुभूति की घोषणा जब मंसूर ने की तब उसको बड़ी बेरहमी से मार दिया गया। क्योंकि एकेश्वरवादी इस्लाम मानस यह सहन नहीं कर पाया। उसके पास ईश्वर का समग्रलक्षी बोध ही नहीं था। मंसूर के पहले के मुस्लिम सिद्धों के पास या तो ऐसी कोई अनुभूति नहीं थी अथवा तो वे लोग कट्टरवादियों से बचने के लिए चुप रह गए होंगे। जिसकी वजह से मंसूर के पहले इस्लाम को ऐसी धारणा ही नहीं मिली थी कि ईश्वर किसी अदृश्य स्थान में नहीं परंतु आपमें भी है। जिस वजह से कुछ लोग मंसूर की अनुभूतिगम्य सत्यघोषणा और धर्मक्रांति सहन नहीं कर पाए। मुल्लाओं को लगा कि हर आदमी ऐसा कहने लगेगा कि 'अल्लाह मुझमें है' तब हमारी जरूरत नहीं रहेगी! और मंसूर ऐसे अज्ञानियों के अहंकार और सिज़्जदा का शिकार बन गया। परंतु मंसूर को मारने पर भी वे नहीं मार पाए। मंसूर को पूरी दुनियां याद करती है। मारने वाले को कोई याद नहीं करता। क्यों? क्योंकि मंसूर ने जो कुछ भी कहा उसमें केवल क्रांति नहीं थी, मंसूर की क्रांति सत्य और अनुभव की नींव पर खड़ी हुई थी। मंसूर को कई बार कहा गया कि तू एक बार कह दे कि तू अल्लाह नहीं है। तो तुझे बक्ष देंगे। परंतु मंसूर ने कहा कि रोम रोम में जिसका अनुभव हो रहा है उसका इन्कार कैसे कर दूँ? आप मेरे

शरीर को मार सकते हो, मुझको नहीं। क्योंकि मुझमें तो अल्लाह के सिवाय कुछ बचा ही नहीं। और उस परमात्मा का खत्म करने का कोई उपाय नहीं है। इसमें मंसूर की हठ नहीं थी, न किसी के सामने कोई जिहाद थी। वह तो एक आत्मनिवेदन था। अनुभवगम्य सत्य था। उसने जान लिया था कि इसलिए उसने शरीर असत्य और नाश्वंत है। सत्य के सामने आत्मनिवेदन कर दिया। प्रस्तुत कर दिया स्वयं के शरीर को, मन को, बुद्धि को, देहाभिमान और देहासक्ति को, सुख को। ऐसा आत्मनिवेदन परम प्रेम और ध्यान के संयोग से घटता है।

बेचारी मौत हो जाएगी  
तेरे पास आकर तो !  
तुझे ले जाने पर भी वह तो  
खाली हाथ जाएगी !

भक्ति ध्यान की चरम सीमा में आत्मनिवेदन के शिखर तक पहुंच कर साधक मृत्यु को भी अवसर मानता है। और घोषणा करता है कि किसी भी निमित्त से मेरा शरीर छूटेगा तो मेरा प्रियतम से विरह खत्म हो जाएगा। उद्धव और गोपी के संवाद को कौन नहीं जानता। कृष्ण की विरहाग्नि में जलती हुई गोपियों को सांत्वना और ज्ञान देने का पंगु प्रयास करने वाले उद्धव को गोपियां कहती हैं –

तन में किशन मेरे मन में किशन।  
घर घर में किशन कुंज बन में किशन है।।  
माखन किशन मेरी मटुकी किशन।  
बंसी-वट में किशन पनघट में किशन है।।  
असुवन किशन मेरी अंखियां किशन।  
मेरा आदि किशन और अंत भी किशन हैं।।  
'मोहिनी' किशनलाल बस्यो रोम रोम मेरे।  
कहो जोई उधौ व्रजधन ही किशन है।।

इसे भक्ति ध्यान नहीं तो और क्या कहेंगे ? गोपियों का प्रेम परिशुद्ध होकर भक्ति बन गया और कृष्ण की भक्ति करते करते गोपियाँ कृष्ण में ध्यानस्थ होकर ध्यानरूप बन गईं। गोपियों की प्रेम की पराकाष्ठा का दर्शन करके ज्ञान गारुड़ी उद्धव भी मतवाला बन गया। भक्त के विरह को वह पहली बार समझ पाया।

लोग कहते हैं कि विरह विष का घूंट है, परंतु भक्ति में यह विष कितना मधुर होता है! इस बात को जाकर कोई मीरा से पूछे तो पता चले कि यह विष घूंट अमरत्व प्रदान करता है। भक्त प्रेम में मतवाला बनकर कभी कभी अपने प्रियतम को आँय-बाँय बक जाता है। परंतु मैं कहती हूँ कि प्रेम में ऐसी छूट स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। प्रेम में सबकुछ माफ होता है। कभी कभी भक्त को विरह की विषम ज्वाला में सन्निपात हो जाता है। परंतु वह भी परमात्मा की देन है। ऐसी कृपा सबपर नहीं उतरती। प्रेम में फिदा होने वाला ही ऐसा विशिष्ट कृपापात्र बन सकता है। इसलिए तो सूरदास ने कहा कि

जाही पर तुम रीझते, क्या देते यदुवीर ?  
रोना धोना सिसकना, आहों की जागीर।।

प्यारे साधको !

भक्ति में विरह एक अलौकिक जागीर है। यह मज्जा हरकिसी को प्राप्त नहीं होता। भक्ति में रोना भी विरहध्यान बन जाता है। भक्तिध्यान कभी पुश्क नहीं होता। वह ध्यान अश्रु से भीगा भीगा और गर्म होता है।

मेरा अनुभव है कि प्रभु के गुणगान करते करते गद्गदित होने में जो मज्जा है वह गाने में कहाँ ? गद्गद भाव से ही कोई भी गीत पूर्णता को प्राप्त करता है। प्रभु के लिए गाए हुए ऐसे गाने को हम भजन कहते हैं। कभी कभी तो प्रेमाग्नि और विरहाग्नि में अपने प्रियतम को ताना देने में और खरी खोटी सुनाने में जो मजा आता है, ऐसा मजा प्रार्थना, स्तुति, स्तवन और प्रशंसा में कहाँ ? ऐसी विरहाग्नि में पाप अथवा त्रिविध ताप तो भस्मीभूत हो ही जाते हैं। परंतु जप, तप आदि भी ईंधन का काम करते हैं और साधक प्रियतम का ध्यान करते करते उसके रूप में विलीन हो जाते हैं। मैंने सुना है कि जब मीरा भजन गाती गाती भजन के अंतिम चरण तक पहुंचती तब गिरिधर गोपाल का नाम आते ही केवल गि...र... कह पाती थी और गद्गदित हो जाती थी और आंसू गिरने लगते थे। मानो स्वयं कृष्ण ने आकर मुंह पर हाथ रख दिया हो और कह रहा हो कि तेरी पुकार मुझतक पहुंच गई है, मीरा ! अब विशेष पुकारने का कष्ट मत उठा मैं आ गया हूँ।

संत तुलसी ने भी भक्त के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है कि

गद्गद गीरा नयन बह नीरा, मम गुन गावत पुलक शरीरा।

भक्ति ध्यान से प्रभु विरह का पारा रग रग में चढ़ जाता है। मन के मृग की भागदौड़ बन्द हो जाती है। तड़प तड़प कर प्रीतम के ध्यान में प्राण फूँककर तन्मय हो जाना ही भक्त का ध्येय होता है। ऐसी भक्ति के दाता कोई गुरु नहीं होते, वह तो भीतर से उठा हुआ अंतरनाद है, वह तो आपकी स्वतंत्र जागीर है। इसीलिए तो किसी ने कहा है

उर में दाह प्रवाह द्रग रह रह निकले आग

भक्ति ध्यान से साधक में स्तंभ, कंप, स्वेद, अश्रु, स्वरभंग, वैवर्ण्य, पुलक और प्रलय जैसे लक्षण दिखते हैं।

मर मिटने की चाह हो यही विरह की राह

फौलाद तो आग से पिघलता है परंतु परमात्मा बहुत कोमल है, करुणावान है, वह तो केवल प्रेमाग्नि से पिघल जाते हैं। संत चरणदास ने कहा है कि

पियु पियु कहते दिन गया, रैन गई पिय ध्यान

बिरहिन के सह में सधै, भगति जोग तप ज्ञान।

भारत का भाग्य से ही कोई संत कवि ऐसा रहा होगा कि जिसने ज्ञान और ध्यान के साथ भक्ति का महिमागान न किया हो। दयाबाई ने कहा कि

बिरह बियांसू हूं बिकल दरसन कारन पीव

दया दया की कहर कर क्यों तलफत यह जीव

कबीर ने कहा कि

विरह कमंडल कर लिए वैरागी दोउ नैन

मांगे दास मधुकरी छकै रहे दिन रैन

दादू ने भी कहा

विरह अग्नि तन जालिए ज्ञान अग्नि दो लाय

दादू नख सिख पर जले राम बुझावे आय।

दरिया साहब ने कहा कि

दरिया हरि किरपा करी, बिरहा दिया पठाय

यह बिरहा मेरे साधको, सोता लिया जगाय

प्यारे साधको !

ध्यान भी जगाता है, प्रेम भी जगाता है। प्रेम जब अलौकिक बन जाता है तब ध्यान सहज पनप जाता है।

प्रेम जब अनंत हो गया, रोम रोम संत हो गया

देवालय हो गया बदन, मन महंत हो गया

परंतु यह विधि शुष्क लोगों के लिए नहीं है। सिर्फ हृदयवान लोग ही भक्ति के द्वारा ध्यान में प्रवेश कर सकते हैं। भक्ति मार्ग में बुद्धि की समझ में ना आए ऐसी बातें होती हैं। ऐसी ऐसी घटनाएं घटती हैं और बौद्धिक स्तर पर जीने वाला मनुष्य ऐसी क्षणों में अपने मन को संशय से भरकर पथभ्रष्ट हो जाता है। तर्क की सीमाएं जहाँ खत्म हो जाती हैं वहाँ से प्रेम के विश्व का प्रारंभ होता है। प्रेम में सब स्वीकृत होता है। कभी कभी वहाँ छोटे बड़े का भेद मिट जाता है। जब में कहूँगी कि भक्ति मार्ग में भक्त भगवान से बड़ा है तब हो सकता है कि आपके मन में संशय उठे परंतु ऐसी घटनाओं से हमारा इतिहास भरा है।

भक्त अंबरीष की कथा कौन नहीं जानता ! ऐसी तो अनेक घटनाएं हैं जहाँ भक्त भगवान से बड़ा सिद्ध हुआ है और यह बात भी याद रखना कि भक्त कभी सिद्ध नहीं करता कि वह भगवान से बड़ा है, भगवान ही भक्त को बड़प्पन देकर सिद्ध कर देता है कि भक्त मुझसे बड़ा है।

कभी कभी मीरा जैसे आत्मविश्वासी भक्त तो ढोल पीट कर कहते हैं कि

गोविंद लीनो मोल, माई मैंने गोविन्द लीनो मोल।



.....लीनो बजंता ढोल।।

भगवान को धन से, तर्क से, सत्ता से प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह केवल प्रेम के आधीन है। भक्त प्रेम का मोल चुकाकर भगवान को खरीद भी सकता है। महाराष्ट्र की संत सखुबाई का नाम आपने सुना होगा। सखु का रूप लेकर भगवान ने सखु के घर के सब प्रकार के काम किए थे। और सखु पंढरपुर की यात्रा में विट्ठल की भक्ति में मस्त थी। यह प्रमाण है भक्त और भगवान में अभेद का।

एक बार नारद ने कृष्ण से पूछा कि प्रभु! दुनियां में आपसे बड़ा कौन है? भगवान ने कहा मेरे भक्त। नारद को आश्चर्य हुआ। नारद को बोध कराने के लिए भगवान बीमार पड़े कोई दवाई लागू नहीं हो रही थी। नारद ने कहा – प्रभु अब क्या करूँ? भगवान ने कहा गोपियों की चरण रज लेकर आ। उस चूर्ण से मेरा रोग मिट जाएगा। नारद गोपियों के पास पहुँचे, और सारी बाद बताकर चरण रज मांगी। नारद तो नारद था! उसने गोपियों की परीक्षा करने के लिए यह भी कहा। ‘आपकी चरण रज से भगवान का दर्द मिटेगा यह तो ठीक है परंतु आप आपकी चरणरज भगवान को खिलाओगी तो नर्क में जाओगी।’ गोपियों ने कहा नारद विलंब मत करो! हमारी चरण रज से अगर भगवान का दर्द मिटता है तो हम जन्म जन्म तक नर्क की सजा भुगतने के लिए तैयार हैं। तब से नारद को भक्ति की दीक्षा मिल गई। ऐसा प्रेम भगवान को खरीद सकता है। ऐसे प्रेम में दर्द भी है आनन्द भी है। इस मीठे दर्द को हर कोई नहीं समझ सकता। इसलिए तो मीरा ने कहा –

तेरी मैं तो प्रेम दीवानी मेरा दर्द ना जाने कोई

लोग प्रेम का अर्थ कुछ भी कर लें परंतु मैं कहती हूँ कि

इश्क ना है ऐश ना अय्याशी ना अय्यारी है

‘मोहिनी’ ‘बे-ऐब इश्क उसकी सीधी यारी है।

ऐसे भक्ति ध्यान में जब आपका प्रवेश हो जाएगा तब आपको किसी अन्य ध्यान विधि की जरूरत नहीं रहेगी। न मोक्ष की आकांक्षा रहेगी, न दुनियां की गरज।

## धारणा - ७७

### इष्टदेव ध्यान

प्रिय साधको!

शिव पार्वती से कहते हैं कि हे मृगाक्षी! कभी न देखे हुए दृश्य में ध्यान लगाओ, उससे मोक्ष घटित होता है।

वैसे तो विज्ञान भैरव तंत्र में ११२ धारणाएं हैं परंतु यह एक विशिष्ट धारणा है। शिव कहते हैं कि न देखे हुए दृश्य में ध्यान लगाओ। शिव की भाषा समझना थोड़ी कठिन है। और उससे उचित समाधान पाना यह सद्भाग्य की बात है। हर व्यक्ति प्रबुद्ध पुरुषों से इतने निकट और कृपापात्र नहीं होते हैं कि अपने आध्यात्मिक प्रश्नों के समाधान प्राप्त कर लें। काफी लोग प्रबुद्धात्माओं की वाणी नहीं समझ पाते हैं। शिव जब कहते हैं कि न देखे हुए दृश्य में ध्यान लगाओ तब बात ज़रा विशिष्ट और विचित्र लगती है। इस धारणा को सुनते ही पार्वती प्रश्न कर उठती है कि हे प्रभु! जिसे कभी देखा न हो उसपर ध्यान कैसे हो सकता है?

पार्वती का प्रश्न प्रमाणिक है। एक अर्थ में यहाँ शिष्य की सीमित समझ है। पार्वती एक प्रमाणिक ध्यानी और समर्पित शिष्या बनकर बैठी हैं। वह हर चीज को समझना चाहती हैं। वह एक प्रेमिका, एक पतिव्रता नारी और एक माता होने पर भी जहाँ साधना की बात आती है, जहाँ ज्ञान की बात आती है, जहाँ आध्यात्मिक क्षेत्र शुरू होता है वहाँ दुनियावी रिश्तों से ऊपर उठ जाती हैं और एक मुमुक्षु की भांति शिव से प्रश्न किए जाती हैं। वहाँ शिव भी एक ज्ञानावस्था में ही संवाद कर रहे हैं। वह भी पूर्ण रूप से प्रमाणिक हैं, पार्वती इस दिव्य क्षण को गवाँना नहीं चाहती और ज्ञान के शुद्ध स्वरूप को ध्यान के द्वारा जान लेना चाहती हैं।

प्रिय साधको!

मैंने कई बार कहा है कि ध्यान का आधार है धारणा। जब धारणा समझ में आएगी तभी ध्यान समझ में आएगा। इसी धारणा के लिए मैंने विधि शब्द का प्रयोग कई बार किया है। और दूसरी बात भी याद रहे कि शिव हो या मैं, परंतु केवल धारणा तक ही मार्गदर्शन दिया जा सकता है। ध्यान में तो स्वयं ही डूबना पड़ता है। और इसी वजह से ध्यान की प्रत्येक विधि जो हमारे शास्त्रों ने कम से कम शब्दों में और गूढ़ भाषा में समझाई है उसको मैंने बहुत सरल करके विस्तार से समझाने का प्रयास किया है। मेरा हेतु एक ही है कि जो साधक धारणा को सही ढंग से समझ पाएगा वह आसानी से ध्यान में उतर पाएगा।

सिर्फ मैं नहीं, शिव भी चाहते थे कि धारणा को लेकर साधक का चित्त स्पष्ट हो जाए, वह धारणा को अच्छी तरह से सही अर्थ में समझ ले और इसीलिए शिव ने पार्वती को ज्ञान देते समय एक आज्ञाकारी पतिव्रता नारी या प्रेमिका की भांति न देखते हुए एक जागरूक शिष्या अथवा तीव्रता से साधन साधना में उतरने के लिए अभिषिक्त एक साधिका के रूप में ज्ञान दिया। ज्ञान नाते-रिश्तों से ऊपर है। फिर भी ज्ञान के आदान प्रदान में प्रेम की बहुत बड़ी भूमिका है। मैं तो कहूँगी कि ज्ञान पाने के लिए प्रेम एक अनिवार्य तत्व है।

प्रेम के बिना के ज्ञान संवाद संभव नहीं हो सकता परंतु प्रेम का अर्थ यह भी नहीं कि उसे आप दुनियादारी रिश्ते में बांध दो और यह भी नहीं कि एक दूसरे की हाँ में हाँ मिलाते रहो। ज्ञान और प्रेम दोनों स्वतंत्रता देते हैं। दोनों आपके संपूर्ण अस्तित्व को असल रूप में स्वीकार करके धीरे धीरे उसके पार ले जाते हैं। आपको रूपांतरित कर देते हैं।

शिव जवाब देते हैं कि हे पार्वती! अपने इष्टदेव के स्वरूप में ध्यान लगाओ। यह एक अत्यंत सरल और ईश्वर के साकार स्वरूप पर आधारित हर संप्रदाय में स्वीकृत विधि है। यह एक ऐसी विधि है कि जिसका कोई भी धर्म अस्वीकार नहीं कर पाएगा। क्योंकि प्रत्येक धर्म किसी न किसी देव, फरिश्ता, पैगंबर, तीर्थंकर, अवतार या गुरु से जुड़ा हुआ है। यहाँ शिव ने एक ऐसी विधि बताई है कि जिसे आप यूनिवर्सल मैथड कह सकते हैं। यह वास्तव में एक वैश्विक ध्यान पद्धति है। विश्व के प्रत्येक धर्म को कम से कम इस विधि के लिए तो भारतीय दक्षिण तंत्रशास्त्र वैज्ञानभैरव का स्वीकार करना ही पड़ेगा। यह भारत की विशेष उपलब्धि है।

प्रिय साधको!

प्रत्येक धर्म एक परंपरा है। वह मनुष्य की आस्था पर खड़ा है। समय के साथ उस परंपरा में आते हुए संतों के द्वारा दी गई धारणाएं उसमें जुड़ती जाती हैं। कोई भी धर्म सीधा जन्म नहीं ले सकता। जैसे बच्चे को जन्म देने के लिए प्रजनन तंत्र और माता अनिवार्य हैं वैसे ही प्रत्येक धर्म के लिए पहले धर्म गुरु की, किसी न किसी भगवान की, अवतारी पुरुष की या प्रबुद्ध पुरुष की आवश्यकता है।

मैं कहती हूँ कि पहले पृथ्वी पर धर्मात्मा उतरते हैं बाद में धर्म। सामान्य रूप से किसी एक व्यक्ति द्वारा उपदिष्ट बातें और सिद्धांतों को जब एक आस्थावान समुदाय मानने लगता है तब वे विचार धर्म का रूप धारण कर लेते हैं। ईसाई धर्म इसू के बाद आया। नानक के बाद सिख धर्म आया। बुद्ध के बाद बौद्ध धर्म और ऋषभदेव के बाद जैन धर्म पैदा हुआ। वास्तव में उन प्रबुद्ध पुरुषों ने तो समय के अनुसार मनुष्य के कल्याण के लिए और उसे उत्तम जीवन देने के लिए कुछ धर्मपूर्ण बातें ही करी थीं, सत्य के लिए लोगों को जगाया था। अपनी चेतना से मनुष्य पर शक्तिपात किया था। समय के साथ उनके शब्द शास्त्र बन गए। उनके विचारों को लोगों ने धर्म का रूप दे दिया। उनके विचारों को आदर्श मानकर उन्होंने दिए हुए आदेशों को धार्मिक नियम बना दिया। उनके अनुयायीओं ने आस्था और प्रेम के वश होकर एक विचारधारा को जिन्दा रखने के लिए उसे विशेष धर्म अथवा संप्रदाय का नाम दे दिया। जिन लोगों को वे विचार पसंद आए वे लोग जुड़ते गए उन धाराओं में। सद्विचार की शक्ति हजारों साल तक काम करती रही। परंतु समय के साथ लोग केवल विचारों को ही दोहराते रहे, रटते रहे, उसका प्रचार करते रहे। उन विचारों के आधार पर भीड़ इकट्ठी करते रहे और मूल गद्दी पर एक के बाद एक गादीगुरु बदलते रहे। परंतु करुणा की बात यह हुई कि मूल विचारक अथवा धर्मात्मा के विचारों का प्रचार मात्र हुआ परंतु उनके जैसा आचरण नहीं रहा। विचार बचे आचार खो गए। ऐसा होना बहुत स्वाभाविक था। क्योंकि व्यक्तिमात्र एक स्वतंत्र इकाई है। इस विश्व में समान व्यक्तियाँ कभी नहीं हुई हैं। राम को मानने वाला हर मनुष्य राम नहीं बन सकता। यह संभव ही नहीं। ऐसी अपेक्षा करना यह भी मूढ़ता है, नासमझी है। राम की चेतना अलग थी, उनके रक्त के संस्कार अलग थे। उस समय का माहौल अलग था, उसके गुरु अलग थे, उसके आध्यात्मिक और आंतरिक क्षमताएं अलग थीं, उसका कार्यक्षेत्र, चिंतन और ध्येय अलग था। आपकी चेतना अलग है, प्रत्येक व्यक्ति एक नई क्षमता और नई संभावना लेकर पृथ्वी पर जन्म लेता है।

मैं कहती हूँ कि धर्मों का काम केवल मनुष्य को सत्य के प्रति प्रेरित करना है। उसके पास मूल धर्म स्थापक या आदर्श पुरुष जैसे आचरण की अपेक्षा करना उचित नहीं है।

मैं कहती हूँ कि मनुष्य को सिर्फ जगा दो। धर्म के नाम पर व्यक्ति की वैचारिक स्वतंत्रता छीन लेना और परंपरागत रंग रूप बता देने का प्रयास तथा आग्रह अधर्म पैदा करता है और एक मूढ़ समाज को जन्म देता है। विश्व को ऐसे धर्म की जरूरत है कि जो मनुष्य को जगा दे। जागे हुए मनुष्य के विचार और व्यवहार अपनेआप सुलझे हुए होंगे। जागे हुए मनुष्य से अधर्म हो ही नहीं पाएगा। और इसी ध्येय को लेकर इस पृथ्वी पर फिर से एक बार मैं मनुष्य को ध्यान का धर्म देना चाहती हूँ। मनुष्य को मैं ध्यानधर्मा बनाना चाहती हूँ।

जरा सोचिए तो सही! दो व्यक्ति के हाथ के अंगूठे की छाप भी एक जैसी नहीं होती तो दो व्यक्ति के वाणी, वर्तन और विचार एक जैसे होना कैसे संभव है। इत्तफाक से कभी कभी चेहरे एक जैसे होते हैं। परंतु स्वभाव, क्षमता, आचरण, चिंतन बिलकुल अलग होते हैं। इसीलिए

तो इस ब्रह्मांड को रहस्यमय और अस्तित्व को महान कहा है। इश्वर को सर्व शक्तिमान कहा है। इसको ही परमात्मा की लीला कहते हैं। जिसका कोई पार नहीं पा सकता। अस्तित्व में प्रतिपल नया नया और कुछ ना कुछ आश्चर्यमय घटित होता रहता है।

राम को मानना एक बात है और राम बनना दूसरी बात। धर्मात्मा का और आत्मनिष्ठ पुरुषों का अनुकरण करना असंभव है। अगर सब राम बन जाएंगे तो कितनी सीताओं का अपहरण! कितने युद्ध, कितने रावण, कितनी कैकई, कितनी मंथरा..... छोड़ो। दुनियाँ नर्क हो जाएगी और बोरिंग भी लगेगी। मैं बिना रावण के रामत्व को जन्म देना चाहती हूँ और वह ध्यान से होगा।

प्रबुद्ध पुरुषों के जीवन को लीली कहते हैं। हम बोलते हैं रामलीला, कृष्णलीला। वह सब लीला थी। जगत के मंच पर आकर वे ज़िन्दगी की बाजी इतने अच्छे ढंग से खेल गए कि दुनियाँ झुक गई उनके कदमों में। सामान्य मनुष्य ने स्वीकार कर लिया कि हमारे लिए ऐसे जीना और ऐसा करना संभव नहीं है। कुछ खास कार्य, खास संघर्ष, खास साधना, और खास विचार राम ही कर सकते हैं। कृष्ण ही कर सकते हैं। बुद्ध, महावीर, मोहम्मद और ईसू कर सकते हैं। हर आदमी उसके काबिल नहीं होता। उन खास बातों को शास्त्र ऐश्वर्य कहते हैं, दैवी गुण और दैवी शक्ति कहते हैं। उन गुणों और शक्तियों की वजह से लोगों ने उन्हें अपने दिल में बिठा लिया। उनके साथ भावात्मक और श्रद्धात्मक रिश्ता जोड़ लिया। उन्हें अपने इष्ट बना लिया।

इष्ट का अर्थ क्या होता है? आप जानते हो! इष्ट का अर्थ है प्रिय। वे लोगों के प्रिय बन गए। विश्व के अवतारी पुरुष लोगों के लिए भगवान बन गए। 'भग' का अर्थ है शक्ति और 'वान' का अर्थ है धारण करने वाला। विशेष शक्तियों को धारण करने वाले को हम भगवान कहते हैं। विश्व के भगवानों ने शक्ति और सामर्थ्य के उच्चतम बिन्दुओं को छू लिया था। किसीने समाज को निर्भयता प्रदान की तो किसी ने विश्व को अहिंसा की ओर मोड़ा, किसीने प्रेम और करुणा को उस हद तक बरसाया कि लोग उनके वश हो गए। क्योंकि साधारण मनुष्य उतने प्रेम और करुणा की कल्पना भी नहीं कर सकता है। कोई ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँच गया तो कोई दर्शन की।

प्यारे साधको!

प्रत्येक भगवान अपनेआप में परिपूर्ण और अनूठे होते हैं। सबको चाहने वाला वर्ग भिन्न भिन्न होता है। वे भगवान जब तक पृथ्वी पर होते हैं तब तक उन्हें द्वंद्व में जीना पड़ता है। वे साधारण मनुष्य की तरह ही संघर्ष करते हैं। वे आपकी भांति ही खाते, पीते, सोते, और उठते हैं। फर्क आंतरिक गुणवत्ता में होता है। जिसकी वजह से उनके विचार और व्यवहार आपको अलग लगते हैं। उनकी चेतना विशेष ढंग से सक्रिय होती है। जो आनन्द और कल्याण को जन्म देती है। वे लोग पृथ्वी को विशेष सुंदर और सुखशांतिमय बनाने के लिए अपनी समग्र ऊर्जा लगा देते हैं। ऐसा होना उनके लिए स्वाभाविक होता है। वे किसी नेता की भांति योजनाएं नहीं बनाते। नहीं बड़े बड़े वचन देते हैं और ना ही घोषणाएं करते हैं। वे तो पुष्प की भांति खिलते जाते हैं और सुवास फैलाकर चले जाते हैं। वे दूसरों को वचन देने की जगह स्वयं के वचनों से स्वयं के साथ प्रतिबद्धित होते हैं। उनका जीवन ही उपदेश बन जाता है। और जब किसीका जीवन ही प्रेरणादायक और उपदेशात्मक हो तो उनके वचनों का गहन प्रभाव पड़ना स्वाभाविक होता है। सत्य तो सत्य होता है। उसको पढ़ाया नहीं जा सकता। उसमें सिर्फ जिया जा सकता है और उसका दर्शन होता है। वह एक सूक्ष्म और आंतरिक दर्शन है। लोगों को आत्मनिष्ठ पुरुषों के जीवन में ही सत्य का दर्शन होने लगता है। जिसकी रग रग में सत्य भरा हो उसके वचनों में सत्य का उतरना और प्रभावकता होना स्वाभाविक है।

मेरे अनुसार सत्य वही है जो कभी पुराना न हो। जो कभी निरर्थक न हो। जिसे कभी बदलने की या फैंकने की जरूरत न रहे। जिसकी सदा काल समान रूप से अनिवार्यता रहे और मनुष्यता का जब तक अस्तित्व रहे तब तक वह उसका मार्गदर्शन करता रहे। जो तर्क के पार हो जो सुख शांति आनंद और स्वतंत्रता के जन्मदाता हो। वह भले कड़वा हो परंतु कल्याणकारी हो।

ऐसे वचनों को भारत आगम और निगम साहित्य नाम से जानता है। वह धर्म साहित्य में स्थान ले लेता है। ऐसे वचनों से उपदेश करने वाले देव बन जाते हैं। क्योंकि वे धरती के मनुष्य से अलग होते हैं। इसलिए पृथ्वी के लिए वे देव बन जाते हैं। ऐसी आत्माओं को भी संघर्ष तो करना पड़ता है, परेशानियाँ भी झेलनी पड़ती हैं, कुछ लोग उनके विरोधपक्ष में भी खड़े होते हैं परंतु वे जीवन को एक लीला की भांति लेते हैं।

मंच पर के विलन हों या वास्तविक विलन परंतु दृष्टा भाव आ जाने के बाद आत्मनिष्ठ पुरुष को कुछ भी झेलना नहीं पड़ता। समन्दर की भांति उनके जीवन में सुख दुख का आना जाना सहज बन जाता है। लहरों का उठना और मिटना जैसे एक समुद्र के अस्तित्व का एक भाग है। वैसे ही जन्म और विदा के दो किनारों के बीच उठती हुई सुख दुख की लहरों को वे साक्षी भाव से देखते रहते हैं। और उनके जीवन जीने के अनूठे ढंग से काफी जिज्ञासुओं को प्रेरणा मिलती रहती है, बल मिलता रहता है। काफी लोगों की समझ बढ़ती रहती है। ऐसे लोग उन्हें अपने इष्ट के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, प्रिय के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। अपने पूज्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। वही उनके लिए भगवान बन जाते हैं।



अपने भगवान को दुनियाँ कभी भूल न जाए और वे अमर बन जाएं इसलिए उनके भक्त सबकुछ करते हैं। उनके वचनों को संग्रहित करके शास्त्र बनाते हैं। वस्त्रों और अन्य चीजों को पवित्र मानकर संभाले रखते हैं। उनके जन्म स्थान पर और पर्यटन की जगह पर उनकी स्मृति में मंदिर बनाते हैं। निर्वाणभूमि पर समाधि चुनवाते हैं और उनकी वाणी का विविध माध्यमों से प्रचार करते हैं।

धीरे धीरे अनुयायियों का आग्रह बढ़ जाता है कि जैसे वे विभूति जी गए वैसे ही और लोग भी जिएं और इसलिए वे लोग कुछ नियम बनाकर उसपर अपनी ओर से धर्म की मोहर मारकर उसे धार्मिक कानून बना देते हैं। यहाँ से गलती का प्रारंभ होता है।

मैं कहती हूँ कि अपने प्रिय के प्रति, इष्ट के प्रति प्रेम रहे यह बराबर है। उनके विचार जो कल्याणकारी और विश्व के लिए मार्गदर्शन रूप हों ऐसे विचारों का प्रचार हो यह भी ठीक है। उनकी स्मृति अविस्मरणीय बन जाए इसलिए प्रेमवश फोटो चित्र या मूर्ति बना लें यह भी ठीक है परंतु वे जैसे जी गए, वैसे ही जिओ ये आग्रह और उसको ही धर्म मानना यह निरर्थक है। क्योंकि ऐसा संभव ही नहीं। हरेक व्यक्ति की क्षमता एक सी नहीं होती। आग्रह और नियम मनुष्य के बीच एक घुटन पैदा करते हैं। अपने इष्ट के प्रति, उनके चाहको का प्रेम जब धर्म के नाम पर लोगों को बंधन में बांधने लगता है तब ऐसे धर्म, संप्रदाय का रूप लेने लगता है। और धीरे धीरे वहाँ से धार्मिकता विदा लेने लगती है। मैं कहती हूँ कि धर्म मनुष्य को मुक्त करे ऐसा चाहिए। प्रेम हमेशा मुक्ति देता है और कानून बंधन देता है। प्रेम से जन्मा हुआ धर्म ही सही धर्म है बाकी सब कानून है।

मेरा स्पष्ट मत है कि आपको अगर अपने इष्ट के प्रति प्रेम है तो उसके नाम से कानून मत थोपो। आपके इष्ट को लोग प्रेम भले करें, प्रेम में बहुत ताकत है, प्रेम मनुष्य को बदल देता है। मनुष्य का प्रेम होगा अथवा जब मनुष्य किसी भी कार्य को प्रेम से करने लगेगा तो समर्पण सहज ही घटित होगा। जिस धर्म में सहज समर्पण होता है वह धर्म सुवासित रहता है। ऐसे धर्म का जीवन लंबा होता है। जो धर्म मनुष्य के इष्टप्रेम को कठिन बंधनों में बांधता है, वह धर्म एक परंपरा बन सकता है प्रेम नहीं। ऐसे धर्म में कोई प्राण और आनंद नहीं होता परंतु उदासीनता, औपचारिकता और धर्मभीरुता होगी। ऐसे धर्म मुक्ति की बातें भले करें परंतु बंधन ही दे सकते हैं। ऐसे धर्मों में जो भीड़ होती है, वे धार्मिक भले दिखे परंतु उनके हृदय में कोई धार्मिकता नहीं होती।

मेरी बात को कितने लोग समझ पाएंगे ये नहीं कह सकती, फिर भी मेरा कहना है कि आपका प्रेम भले किसी भी इष्टदेव पर हो परंतु आप आपकी संतान को प्रत्येक धर्म के ग्रंथों को पढ़ने का मौका देना।

मैं जानती हूँ कि आपके लिए यह इतना आसान नहीं होगा। क्योंकि मनुष्य का मन पूर्वग्रह और आग्रहों से भरा हुआ होता है। आप अपने बच्चे को अपना ही धर्म देना चाहते हैं। उसीमें ही आपको उसका कल्याण नज़र आता है। परंतु हो सकता है कि ऐसा आग्रह गलत भी हो। अपने बच्चे पर आपके विचार, परंपरा, धर्मग्रंथ और नीति नियमों को थोपकर बचपन से ही उसके मन में एक ही बात लाखों बार डाल देंगे, तब उसका मानस आपके भगवान का स्वीकार करने लगेगा। परंतु यह एक मानसिक ट्रीटमेंट मात्र है। वह उसका कमाया हुआ भगवान नहीं है। वह तो आपकी अन्य चीजों भगवान को भी विरासत में देने की एक बालिश कोशिश है। उसका मन ऊपर ऊपर से आपकी बातों से संस्कारित हो जाता है। वह आपकी हाँ में हाँ मिलाने लगता है। वह आपका अनुकरण करने लगता है।

आप भय में, तकलीफ में, नुकसान में अथवा स्वार्थ साधने के लिए दौड़कर भगवान के मंदिर के पास जाते हो और कुछ मांगने लगते हो। इस मांगने को आप प्रार्थना कहते हो। गणित को प्रार्थना का नाम देना या स्वार्थ को प्रार्थना का नाम देना वह मूढ़ता है या चालाकी। प्रार्थना के नामपर आदमी खुदको और भगवान को ठगते रहता है। धीरे धीरे ऐसा स्वार्थ साधना बच्चों को भी अच्छा लगता है। और वे एक व्यवस्था के लिए भ्रामक सत्य के रूप में किसी के द्वारा पकड़ा दिए हुए भगवान को भजता रहता है। यह परंपरा आगे बढ़ती रहती है परंतु प्रेम खो जाता है। उसमें कोई प्राण नहीं होता।

पृथ्वी पर आने वाले भगवानों से कुछ लोगों को प्रेम हो जाता है। कुछ समय के बाद कुछ चालाक लोगों के द्वारा धर्म के नाम पर राजनीति चलने लगती है। कुछ अबोध और कुछ स्वार्थियों की भीड़ मिलकर ऐसे धर्म का हिस्सा बन जाता है। और कभी मतभेद खड़े होने से या किसी अनुयायी के द्वारा क्रांति छेड़ देने से एक धर्म में से विविध संप्रदाय अस्तित्व में आने लगते हैं। लोग भूल जाते हैं कि मूल में तो प्रेम था। धर्म कहीं था ही नहीं। प्रेम ही धर्म था। जो भी था वह एक सत्य था। परंतु धीरे धीरे सत्य खो गया और भ्रम पलता रहा।

मैं कहती हूँ कि आपके बच्चे को आप धार्मिक स्वतंत्रता दो। उनको अपनी अंतर की आवाज़ के अनुसार जुड़ने दो अपनी पसंद के भगवान के साथ। थोपे हुए नियमों के कारण मनुष्य का धर्म एक हो सकता है। परंतु प्रेम कभी एक नहीं हो सकता। आपका प्रिय पात्र अलग होता है, आपके पुत्र का अलग, पुत्री का अलग, भाई का अलग, बहन का अलग। धर्म एक गहन प्रेम है, वहाँ मनुष्य का अस्तित्वगत रूप से जुड़ना अनिवार्य है। वह नीति, समाज या मस्तिष्क का विषय नहीं है। सबका प्रिय पात्र एक ही हो ऐसा कभी संभव नहीं होगा। अपने प्रिय पात्र



को खोजना मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। मनुष्य पर परंपरागत धर्म को थोपने को मैं धार्मिक अपराध कहती हूँ। ऐसा प्रायास एक आध्यात्मिक और हार्दिक अपराध भी है। यह एक सूक्ष्म हिंसा ही है। ऐसा धर्मजनून बेइंसाफी है। बेइंसाफी सबसे बड़ा अधर्म है।

प्यारे साधको !

अपने इष्ट को खुद ही ढूँढना पड़ता है। अन्य के ढूँढे हुए इष्ट को जब अपना इष्ट बनाना पड़ता है। तब ऐसे इष्ट के साथ निभाना पड़ता है, उसे झेलना पड़ता है। जो लोग धर्म के नाम पर निभाए जाते हैं उनमें प्रसन्नता और सुवास नहीं होती। ऐसा धर्म निष्प्राण है। वह एक औपचारिकता या व्यवस्था है। भक्त का प्रेम नहीं है। ऐसी धार्मिक व्यवस्थाओं में से आज बू उठने लगी है।

मैं कहती हूँ कि मनुष्य ज्यादा से ज्यादा इतना कर सकता है कि अन्य के इष्ट का आदर कर ले। परंतु आदर में और प्रेम में फर्क होता है। आदर में एक अंतर होता है। आदर शिष्टाचार और व्यवहार से प्रगट होता है। परंतु वह क्षणिक होता है। आदरणीय व्यक्ति के साथ चौबीसों घंटे रहने में कभी कभी अनुशासन का भार महसूस होता है और सजग भी रहना पड़ता है। जबकि प्रेम प्रतिपल घटित हो रही एक हार्दिक प्रक्रिया है। आदर में मान सन्मान देकर बात पूरी हो जाती है। परंतु प्रेम में पूर्ण समर्पण घटित होता है। और भक्त और भगवान के बीच का अंतर कम हो जाता है।

शास्त्र कहता है कि प्रेम चार प्रकार से होता है – स्वप्न दर्शन, गुण श्रवण, चित्र दर्शन और प्रथम दर्शन। परंतु मेरा अनुभव कहता है कि इष्ट देव से प्रेम होना यह एक अलग प्रकार है। ऐसे प्रेम को भक्ति कहा है। ऐसे रिश्ते मनुष्य की अंतरचेतना में जन्म लेते हैं।

जिसके वचनों से अंतरबोध जगने लगता है, जिसके विचार मात्र से शांति का अनुभव होने लगता है, जिसके विषय में सुनकर हृदय गदगदित और शरीर पुलकित हो जाता है और अकारण ही प्रेमाश्रु बहने लगते हों तब वो ही मनुष्य का इष्ट बन जाता है। यह एक गहन नाता है, उस नाते के बारे में बौद्धिक स्तर पर कुछ जानना बहुत मुश्किल हो जाता है। इष्ट के साथ यह प्रेम क्यों हुआ ? कैसे हुआ ? इन सारे प्रश्नों का कोई जवाब नहीं होता, वह तो बस हो जाता है।

ऐसा भी हो सकता है कि घर में पांच पीढ़ी से कृष्ण को पूजा जा रहा हो और पुत्र शिव प्रेमी या बुद्ध प्रेमी बन जाए। ऐसा होने में कुछ गलत नहीं है। सम्भव है कि उसकी चेतना किसी भिन्न विश्व में से आई हो। संभव है कि ऐसा आपके साथ या आपके परिवार में भी घटे और आप परंपरा को तोड़कर किसी और दिशा में मुड़ जाएं। ऐसा होने से आप पापी या अधार्मिक नहीं बन जाते। ऐसा होने से आप कोई नर्क में नहीं जाएंगे। कोई भले आपको कुछ भी कहे, भले डराए परंतु आपको अपना मार्ग ढूँढ लेना का गौरव होना चाहिए।

धर्म और प्रेम मनुष्य को निर्भयता देता है। आपका तालमेल अगर शिव, बुद्ध अथवा महावीर से मिल रहा हो। उनकी शैली या विचारों से आप ज्यादा निकटता और अपनापन महसूस कर रहे हों, उनके वचनों को समझने में आप ज्यादा सरलता का अनुभव करते हो तो कोई अधर्म नहीं कर रहे हो। प्रेम हमेशा व्यक्तिगत और अस्तित्वगत होता है। जरूरी नहीं कि आपके प्रिय को सब प्रेम करें और दूसरे के प्रिय को आप प्रेम करें। भक्त और भगवान का रिश्ता तो एक गहन रिश्ता है। उसके मूल को ढूँढना मुश्किल है। समुद्र का थाह लेना असंभव है वैसे ही भक्त की चेतना की गहराईओं को जानना असंभव है।

अपने इष्ट को पसंद करने के लिए मनुष्य के पास तीन मार्ग हैं। उनमें से प्रमुख मार्ग है – अवतारी आत्माओं के वचन जिसे शास्त्र आगम साहित्य कहते हैं। दूसरा मार्ग है परंपरा, परंतु उसमें जीवंतता कम है और अनुकरण ज्यादा। तीसरा मार्ग ही मूर्ति और चित्र का दर्शन, चित्र के नाक नक्श, चित्र की आभा प्रतिभा।

प्रथम मार्ग आध्यात्मिक पुरुषार्थ का मार्ग है। पुस्तक धर्मग्रंथ इतने जीवंत नहीं है कि जितने ज्ञानी पुरुष थे या होते हैं। फिर भी आपके पास एक साधक का हृदय है, एक खोजी चित्त है, विशुद्ध जिज्ञासा है, शब्दों की गहराई में उतरने की क्षमता है और भाषा के रहस्य को समझने की अंतरदृष्टि है, ज्ञानियों के वचनों का आप मनगढ़ंत अर्थ नहीं लगा रहे हैं और शब्द के तत्व को पा सकते हो तब ज्ञानी पुरुषों की वाणी आपकी मदद करने लगती है। आपके लिए शास्त्र जीवंत बन जाता है। वे वचन आपको जगाने में, आपको बदलने में आपकी सहायता करने लगते हैं और जहाँ से जिसको इस प्रकार की वाणी से मदद मिल रही है वह बन जाते हैं उसके इष्ट।

अगर आपके साथ ऐसा हो गया तो उस वाणी या वाणी के उद्गाता आपके इष्ट बन जाएंगे, आपके प्रिय बन जाएंगे। आपके लिए वे देवता बन जाएंगे और कल्याणकारी बन जाएंगे।

मेरे अनुभव से मैं कह सकती हूँ कि कभी कभी मंत्र भी देव से प्रेम होने का माध्यम बन जाता है। वैसे तो मंत्र आस्था का विषय है परंतु वास्तव में मंत्र एक रहस्य है। रहस्य इसलिए है कि उसके जाप से आपके भीतर उठने वाले स्पंदनों से आपके रसायण बदलने लगते हैं। जरूरी नहीं है कि हर मंत्र आपके रोम रोम के साथ काम करने लगे। मैंने देखा है कि खास प्रकृति के मनुष्य को खास प्रकार का मंत्र आकर्षित करता है।

मंत्र गुप्त रूप से आपके साथ काम करता है और किसी अज्ञात में से आपको मदद मिलने लगती है। यह मदद कहाँ से आ रही है इसे कोई जान नहीं सकता। इसलिए मंत्र को रहस्य कहा है।

मैंने अनेक लोगों को देखा है कि उनके गुरु ने कुछ और मंत्र दिया है, उसके घर की परंपरा का मंत्र कुछ और है अथवा है ही नहीं। और साधक कुछ और ही मंत्र का जाप करता है। मैंने ऐसे गुरुओं को भी देखा है कि स्वयं कुछ और मंत्र का जाप करते हैं और शिष्यों को कुछ और मंत्र देते हैं। कुछ गुरु प्रमाणिक होते हैं। ऐसे गुरुओं से मेरी चर्चा भी हुई है। उन्हें ऐसा करना पड़ता है।

प्रिय साधको !

आस्था एक व्यक्तिगत विषय है। अकस्मात् या संयोग से वह पारिवारिक बन जाए यह अलग बात है परंतु एक इष्ट को अथवा संत को पूरा परिवार समान भाव से पूजता हो ऐसा संभव नहीं है। एक धार्मिक शिष्टाचार के लिए घर के एक कोने के धर्म स्थान में और मंदिर में माँ के साथ बेटा चला गया कि पत्नी के साथ पति चला गया और सर झुका लिया वह अलग बात है। परंतु मंदिर में सर झुकाने वाले सभी के इष्ट उसी मंदिर के देव हैं ऐसा मत समझ लेना। मनुष्य बहुत प्रेक्टीकल प्राणी है। ज्यादातर मनुष्य राजनीति और स्वार्थ में जीते हैं। साधारण आदमी दूसरों को खुश करने के लिए कुछ भी कर लेता है। भारत का उदार धार्मिक दृष्टिकोण भी ऐसा होने में निमित्त है। कुछ लोग बड़ों के दबाव में आकर झुक लेते हैं। और कुछ लोग घर की शांति के लिए धार्मिक औपचारिकता निभा लेते हैं।

भारत के विविध गुरुओं ने विविध मंत्र दिए हैं। ऐसा क्यों ? इसके दो कारण हैं – एक तो मंत्र शक्ति से लोगों का आध्यात्मिक फायदा हो जाए और दूसरा मंत्र धर्म परंपरा की विशेष पहचान बन जाए। जिन लोगों को अपने गुरु के प्रति लोगों की अपार आस्था होती है वे लोग अपने गुरु से एक मंत्र चाहते हैं। शिष्य की श्रद्धा को पुष्ट करने के लिए गुरु मंत्र दे देते हैं।

कुछ मंत्र अति प्राचीन हैं। जिनमें से कुछ स्वतः ब्रह्मांड में ध्वनित हुए हैं और कुछ देवी देवताओं और ऋषि-मुनियों के द्वारा प्रगट हुए हैं। भारत के ऋषिओं ने विविध मंत्रों द्वारा देवी देवों को रिझाया है। वे मंत्र एक अर्थ में धार्मिक नहीं परंतु वैज्ञानिक थे जिनके उद्गार आपको समग्र ब्रह्मांड की ऊर्जा के साथ किसी सूक्ष्म सूत्र से जोड़ देते हैं।

कभी कभी मनुष्य की चेतना को कोई विशेष मंत्र सहज जंच जाता है। किसी गुरु के द्वारा नहीं मिला होने पर भी वह उसका उस मंत्र के साथ तदात्म्य हो जाता है। इसका भी कारण है। ब्रह्मांड में हजार हजार प्रकार की ध्वनियाँ हैं। वह सूक्ष्म रूप से विश्व में फैल रही हैं। मनुष्य के भीतर जो कुछ भी पड़ा है उसके अनुसार की ध्वनि सुनते ही या बोलते ही उसे पसंद आ जाती है। इसी वजह से उग्र स्वभाव का मनुष्य उग्र मंत्र को पसंद करेगा। शांत स्वभाव का मनुष्य शांत मंत्र को पसंद करेगा। छोड़ो ! अभी मुझे यह बात नहीं करनी है। जब मंत्र आधारित ध्यान विधियाँ बताऊंगी तब इसकी विस्तार से चर्चा करेंगे।

यहाँ मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि मनुष्य की पसंद अपने स्वभाव के अनुसार होती है। जिसके हृदय को और भावों को जो ध्वनियाँ छू जाती हैं वह उसका प्रिय मंत्र बन जाता है और उस मंत्र के केन्द्र में जो देव-देवी, सिद्ध पुरुष या धारणा होती है वह उसका इष्ट बन जाता है।

तीसरा मार्ग है चित्र या मूर्तिदर्शन का। आप जितने देवी देवताओं के चित्र देख रहे हैं वे सब संपूर्ण वास्तविक नहीं हैं। एक ही देव की विविध देशों में बनाई गई मूर्तियों में फर्क दिखता है। मैं कई बार मोरेशियस गई हूँ वहाँ के शिव पार्वती की मूर्ति और भारत के शिव पार्वती की मूर्ति को देखें तो दोनों के सौन्दर्य में बहुत फर्क है। मोरेशियस आफ्रीका खंड का एक टापू है। वहाँ के लोगों में जितना सौन्दर्य है अथवा उनमें जितना सौन्दर्य बोध अथवा सौन्दर्य का दर्शन होता है उतना सौन्दर्य वहाँ के कलाकारों ने मूर्तियों में उतारने की कोशिश की है। मनुष्य जैसा दिखता है वैसे ही अपने भगवान की कल्पना करता है। वैसे तो भारत के चौबीस अवतारों में मछली के रूप में भी भगवान हैं और कछुए के रूप में भी। वह नृसिंह भी है और वराह भी। हमने सबको पूजा है। परंतु बहुत कम लोग अपने घर में मत्स्य भगवान का बड़ा फोटो या कच्छ अवतार की विराट प्रतिमा रखना पसंद करते हैं। कौन रखेगा अपने दीवान खंड में एक महाकाय, भयानक सुअर की फोटो ! मनुष्य सौन्दर्यप्रेमी है। कुरूप आदमी भी सौन्दर्य को चाहता है। ऐसा होना स्वाभाविक है। क्योंकि हमारे भीतर जो परम चेतना है वह सुन्दर और अद्भुत है। भारत ने भगवान को 'सत्यम् शिवम् और सुन्दरम्' कहा है। यह उक्ति बड़ी अर्थपूर्ण है। और इसीलिए तो लोग सीताराम की, राधेश्याम को और गौरीशंकर को विशेष पसंद करते हैं।

भगवान सत्य रूप भी है, सुंदर भी है और कल्याणकारी भी है। मच्छ, कच्छ, वामन, वराह और नृसिंह अवतार कल्याणकारी तो थे, सत्य के स्थापक भी थे परंतु वहाँ सौन्दर्य थोड़ा कम पड़ता है। इसलिए भारत के मंदिरों में सुंदर युगल प्रतिमा को भगवान के रूप में स्थापित किया जाता है। ताकि सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की उक्ति सार्थक हो जाए।

प्यारे साधको !

हम चर्चा कर रहे हैं इष्ट देव के ध्यान पर। जहाँ इष्ट देव की बात आती है वहाँ इष्ट देव के संदर्भ में कुछ मुक्त विचार देना बहुत जरूरी है। आपके मन पर थोपे गए इष्ट देव पर आपका ध्यान नहीं लग सकता। आपके इष्ट देव आपके पसंदीदा होने चाहिए और ऐसा करने में कोई पाप नहीं है। कोई अपराध नहीं है। यह बात समझाने के लिए मुझे इतना कुछ कहना पड़ा। मन वैसे तो रुकता नहीं है वह चंचल है। जो निरंतर चलता रहता है वही मन है। दौड़ता रहता है और अस्थिर रहता है वही मन है। परंतु जिसे देखकर या जिसकी कल्पना करके आपका मन ठहर जाए तब समझना कि आपको वहाँ से ध्यान के लिए मदद मिल रही है। विविध अवतार, ज्ञानी पुरुष और पयगंबर की मूर्तियों का प्रदर्शन रखा जाए तो भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न स्वरूप को पसंद करेंगे। कोई राम को तो कोई बुद्ध को, कोई शिव को तो कोई कृष्ण को, कोई ईसू को तो कोई साई बाबा को, कोई नानक को तो कोई मीरा को।

ऐसा क्यों ? क्योंकि प्रत्येक चित्र आपके भीतर अलग अलग भाव जगाते हैं। मैं कई बार कहती हूँ कि मनुष्य केवल साइकोसिमेटिक नहीं है, वह केवल मनोदैहिक नहीं है परंतु **मनोदेहात्म** है। अब एक बात को समझ लीजिए – मन हमेशा बदलता रहता है। वह तरल है, वह माया से निर्मित कल्पना मात्र है, केवल आत्मतत्त्व स्थिर है।

प्यारे साधको !

मन को शक्ति कहाँ से प्राप्त होती है ? सीधा जवाब है – आत्मचेतना से। जब आपकी चेतना किसी चीज़ में केन्द्रित हो जाएगी तब मन को खुराक मिलना बंद हो जाएगा। मन को खुराक नहीं मिलने से मन क्षीण हो जाएगा और उसे ठहरना ही पड़ेगा।

भगवान के चित्र या मूर्ति में जब आपकी आत्मा, आपका हृदय और आपका भाव स्थिर हो जाता है तब मन रुक जाता है।

मैं कहती हूँ कि जहाँ जहाँ आपका मन विश्रांत हो जाए उन सबको ध्यान विधि में समाविष्ट कर लेना। यहाँ हम इष्टदेव ध्यान की बात कर रहे हैं। इसलिए मूर्ति या चित्र की बातें केन्द्र में हैं। परंतु जरूरी नहीं है कि भगवान के चित्र में ही मन ठहरे। और भी अनेक अनेक माध्यम हैं मन के ठहराव के लिए।

आपने देखा होगा विवाह योग्य लड़के लड़की के लिए कभी कभी कन्या अथवा वर पसंद करने के लिए फोटो मंगवाए जाते हैं। आठ दस फोटो में से एक फोटो पर मन अचानक ठहर जाता है। वहाँ सुंदरता में स्पर्धा नहीं होती, वहाँ प्रत्येक चित्र आपके भीतर एक भाव प्रगट करता है। जिसे पत्नी या पति के रूप में प्राप्त करना है उस व्यक्ति के फोटो को देखकर अगर ऐसा भाव उत्पन्न नहीं हो रहा है तो समझना कि आपके रसायनों को बात नहीं जम रही है। आपके भीतर फोटो की तरंगों का तालमेल नहीं बैठ रहा है। और जहाँ मन ठहर गया वहाँ समझ लेना कि आपकी मन स्थिर हो रहा है। एक अर्थ में वह चेतना का संदेश है। वहाँ मन की दौड़ धूप क्षणिक रुक गई। यह रुकना कुछ कह रहा है। अंतर चेतना कह रही है कि वहाँ सुर सध सकता है। सहयात्रा और सहजीवन की संभावनाएं हैं।

अपने इष्टदेव के साथ भी मनुष्य जीवन की अंतिम ऊंचाईयों पर जीना चाहता है। आंतरिक और गहन रिश्ते के बिना यह संभव नहीं है। आपने अपने इष्टदेव को साक्षात् भले न देखा हो परंतु इष्टदेव को पसंद करने के लिए मूर्तियाँ अथवा चित्र के सिवाय और कोई रास्ता भी नहीं हो। तब आपकी आत्मचेतना आपकी मदद के लिए तैयार हो जाती है और अनेक मूर्तियों को देखते देखते आपका भावजगत किसी एक को पसंद कर लेता है। वह एक अर्थ में तो आपका ही प्रक्षेपण है फिर भी वह प्रक्षेपण मन द्वारा नहीं हुआ है। वह केवल माना हुआ नहीं है। वह प्रेम है, वह रिश्ता गहन चेतना ने तय किया है। वह नाता ऊपरी स्तर से नहीं जन्मा है। वह कहीं भीतर से उग निकला है। आपकी आत्मा पुकार पुकार कर कहती है कि वहाँ से ही मदद मिल सकती है। मैं उसकी शरण में ही जाऊंगा। वही मेरा इष्टदेव है। वह प्रक्षेपण आत्मचेतना के द्वारा भले आरोपित हो परंतु उसके मूल में कोई गहन सत्य पड़ा हुआ होता है।

प्यारे साधको !

मन तो रोज रोज नया चाहता है। कुछ ना कुछ बदलता रहता है। परंतु इष्ट नहीं बदलते। क्यों ? क्योंकि वह मन की पसंद नहीं थी, आत्मा की थी। जैसे मजनू को लैला ही पसंद आएगी। वैसे भक्त को अपने इष्टदेव। वहाँ बदलने की कोई गुंजाइश नहीं है। वहाँ सौन्दर्य का कोई आकर्षण नहीं होता। वहाँ तो चेतना अपना आत्यांतिक शरण ढूंढ लेती है। अंतर की पुकार के अनुसार भक्त दौड़ा जाता है इष्ट के चरणों में। वहाँ भीतर से एक प्रेम की मुहर लग जाती है। वह मुहर हनुमान पर भी लग सकती है, गणेश पर भी, और भैरव पर भी। वहाँ तुलना नहीं हो सकती। तुलना करने वाला मूर्ख होगा। लोग भगवान को भले ही एक धार्मिक विषय मानते हैं परंतु मैं उसे एक आध्यात्मिक धारणा कहती हूँ। क्योंकि इष्टदेव की पसंद अंतर की आवाज से ही होती है। आत्मा ही अपने इष्ट को पसंद करता है उसे पूजता है और उसमें विलीन होता है। देव, मंदिर,



पूजा पाठ उन सबको में अध्यात्म का प्रथम सोपान कहूँगी। क्योंकि वहाँ शरीर मन और इन्द्रियाँ गौण होती हैं। वे तो उन सबको स्थिर करने के लिए हैं। मनुष्य चाहता है कि रात दिन भटकता हुआ उसका मन कहीं तो शांति से ठहर जाए। इसलिए पूजा पाठ प्रार्थना, दर्शन ये सब साधन बन जाते हैं। जहाँ उसकी आत्मा थोड़ी देर के लिए शांति का अनुभव करती है। इसलिए यह सब एक अर्थ में आध्यात्मिक क्रिया कलाप का एक अंश है। परंतु मनुष्य जब पहली सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर जाने का प्रयास ही नहीं करता तब यह सब एक धार्मिक क्रिया-कांड, नीति नियम और बंधन बन जाते हैं।

अपरिपक्व लोग धर्म को क्षणजीवी बना देते हैं। मैं कहती हूँ कि मन का क्षणिक ठहरना यह शाश्वत उपाय नहीं है। उसे विशेष विश्राम की जरूरत है। मन को मिट जाने की आवश्यकता है। और इसलिए पूजा पाठ दर्शन, यह मन का क्षणिक विराम है। और ध्यान शाश्वत विराम।

प्रिय साधको !

शिव एक प्रमाणिक उपदेशक हैं। वे एक अनूठे गुरु हैं। उनके उपदेश में कहीं भी आग्रह नहीं परंतु स्वतंत्रता की उद्घोषणा है। शिव ने पूरे तंत्र शास्त्र में कहीं भी दबाव, तनाव और अनावश्यक नीति नियम नहीं थोपे हैं। कभी ये नहीं कहा कि 'ऐसा ही करो।' प्रत्येक ब्रह्मनिष्ठ पुरुष ऐसे ही होते हैं। वह कभी भी किसी भी पर कुछ भी थोपते नहीं हैं। वे केवल आपका मार्गदर्शन करते हैं। आपको जगाते हैं, आपको दृष्टि देते हैं और फिर आपको स्वतंत्र यात्रा करने के लिए प्रेरित करते हैं। आपके निर्णय स्वतंत्र रूप से ले सको इतने सक्षम बना देते हैं वे आपको।

कृष्ण ने पूरी गीता गाने के बाद अर्जुन को कह दिया कि

‘यथा योग्यम तथा कुरु’

कोई आग्रह नहीं, कोई अधिकार नहीं, कोई अपेक्षा नहीं। कृष्ण कहते हैं कि मैंने तो जो सम्यक् था वह कह दिया। अब तुझे जैसा योग्य लगे वैसा कर। इसमें ही गुरु की गुरुता है। गुरुत्व का आनंद है और गौरव है। असल खेल यहाँ से ही शुरू होता है। राम ने भी अयोध्या की धर्म सभा में आध्यात्मिक संबोधन करने के पहले ही श्रोताओं को कह दिया कि

सुनहुं करहुं जो तुमही सुहाई

मैं तो निरममत्व भाव से जो उचित लग रहा है वह बता रहा हूँ। आप सुनो, फिर आपको उचित लगे ऐसा करना। राम तो सबसे आगे निकल गए। उसने पहले स्वतंत्रता दे दी और बाद में देशना करी। राम यह नहीं कहते हैं कि जो मैं कहूँ वही योग्य। परंतु श्री राम जो उचित है वही कह रहे हैं।

सभी ज्ञानियों ने ऐसा किया है। जहाँ धर्म के नाम पर राजनीति चल रही है और स्वार्थ को पोषना है वे बार बार दोहराते हैं और भीड़ के माथे पर एक ही बात थोपते जाते हैं कि “हमारा धर्म ही सच्चा है, अन्य के पास मत जाना; बाकी नर्क में जाएंगे।”

जहाँ अहंकार और स्वार्थ होता है वहाँ आपको पकड़कर या दबोचकर रखता है। वहाँ धर्म के नाम से भय दिखाया जाता है। ज्ञानी पुरुष तो हमेशा स्वतंत्रता देते हैं, वे स्वतंत्रता के लिए आपको पात्र बना देते हैं, सक्षम बना देते हैं, सजग कर देते हैं ताकि अपनी स्वतंत्रता को आप पचा पाओ और स्वेच्छा से मुक्ति में प्रवेश कर लो।

शिव पार्वती से कहते हैं कि कभी न देखा हो ऐसे दृश्य में ध्यान लगाओ। बात थोड़ी विचित्र लगती है। दृश्य तो उसे ही कहेंगे जो दृष्टि में आता हो। जिसे कभी देखा ही नहीं वह दृश्य कैसे बन पाएगा? बेशक! यहाँ अंतरदृष्टि की ही बात है। पार्वती के मन में जब ऐसा ही प्रश्न उठता है तब शिव कहते हैं कि अपने इष्ट देव में ध्यान लगाओ। अर्थात् आपके अंतरदर्शन में जो देव आते हो, आपकी अंतरदृष्टि जिस स्वरूप पर स्थिर होती हो। जिस देव के निकट जाने में आपको प्रसन्नता का अनुभव होता हो और मदद मिल रही हो उस देव का ध्यान धरो।

शिव पार्वती के परम प्रेमी, पति और इष्टदेव भी हैं। फिर भी उसने यह नहीं कहा कि मुझपर ध्यान धरो। शिव ने ऐसा कहा कि आपके इष्टदेव पर ध्यान धरो। यहाँ उन्होंने पार्वती को पूर्ण स्वतंत्रता दी है। कि आपके आध्यात्मिक विकास के लिए अगर आपको किसी और देव से मदद मिल रही है तो उसके स्वरूप में ध्यान लगा सकते हो।

प्यारे साधको !

यहाँ ध्यान की बात बड़े पैने ढंग से की गई है। इसे जरा ध्यान से समझना। यहाँ केन्द्र में देव नहीं हैं, केन्द्र में ध्यान है। इष्टदेव तो मात्र अवलंबन है। वहाँ अटकना नहीं है। साधक का उद्देश्य होना चाहिए मनोजगत् से ऊपर उठ जाना। मन को स्थिर होते होते उसका रुक जाना। पतंजलि भी बात तो यही करते हैं। मैं भी यही कह रही हूँ। ध्यान तो ध्यान है। योग और तंत्र की भाषा और मार्ग भले भिन्न भिन्न हैं परंतु ध्यान एक ऐसा बिन्दु है कि जहाँ तंत्र और योग दोनों धाराएं गंगा यमुना की भांति एक दूसरे में मिल जाती हैं। शिव ने तंत्र बताया, पतंजलि ने योग के



आठ अंग और मैं मात्र और मात्र ध्यान विधियों पर जोर दे रही हूँ। तंत्र और योग दोनों का मूल उद्देश्य तो एक ही है। मन की समाप्ति, मन से मुक्ति, साधक का परम शांति में प्रवेश।

मैं कहती हूँ कि अगर आपमें क्षमता है और आप सीधे ध्यान विश्व में प्रवेश कर सकते हैं तो क्या जरूरत है आसन-प्राणायाम की ? ध्यान से सबकुछ सहज ही सध जाएगा।

पतंजलि कहते हैं –

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

योग है चित्त की वृत्तियों का क्षीण हो जाना, मिट जाना। अर्थात् मन से मुक्त हो जाना। आपकी सत्ता मन के हाथों में नहीं परंतु स्वयं के हाथों में है। तंत्र भी इसीलिए अनेक अनेक प्रयोग बताते हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है। सुख दुख के द्वंद्व से मनुष्य की मुक्ति और परमानंद की प्राप्ति। परंतु योग के कई अंग ऐसे हैं जिसे हर मनुष्य नहीं साध सकता। और तंत्र की असंख्य विधियाँ ऐसी हैं कि जो सबके लिए संभव नहीं है। परंतु मेरे द्वारा निर्दिष्ट ध्यान की करीब दो सो विधियाँ सबके लिए संभव हैं। क्योंकि मैंने मेरे ध्यानशास्त्र में वैश्विक ध्यानविधियों को देने का प्रयास किया है। जो जाति-पांति, धर्म-संप्रदाय, और राष्ट्रीय सीमाओं के परे है। संभव है कि मेरे शास्त्र से आपको मदद मिल जाए।

प्रिय साधको !

तो अब आइए विधि की ओर। विधि की ओर जाने के लिए कुछ बातें कहना अनिवार्य थी। ये बातें आपके कई प्रश्नों का समाधान कर सकती हैं। ये चर्चा आपको दृष्टि दे सकती है।

आप अगर भक्ति मार्गी हैं, आपका मार्ग प्रेम का है, समर्पण का है और आपके पास धार्मिक-आध्यात्मिक चित्त है, आपको मंदिर, मस्जिद अथवा गुरुद्वार आदि में जाना पसंद है, आप उन धार्मिक माध्यमों के द्वारा प्रसन्न रह सकते हो, आपको लगता है कि सिर्फ वहाँ से मदद मिल रही है और ज्ञान की बातें आपके लिए मुश्किलें खड़ी कर रही हैं तो चिंता मत करो।

ऐसा मत समझो कि आप ध्यान के लिए नहीं हैं। अगर आप अपना थोड़ा सहयोग करने के लिए तैयार हैं और मन के साथ सजगता से काम लेने में थोड़े कुशल हैं तो प्रत्येक मार्ग आपको ध्यान की ओर ले जा सकता है। और इष्टदेव ध्यान आपकी सबसे ज्यादा मदद कर सकता है।

एक स्वच्छ शांत और एकांत स्थान पर बैठ जाओ। अपने प्रिय देव या देवी की भावना करो। उसका स्वरूप अंतरजगत में निखर उठते ही आप उसका तन्मयता से दर्शन करते रहो। उस दर्शन को उस हृद तक गहन बनाओ कि वह दर्शन ध्यान बन जाए। उस ध्यान में उस हृद तक डूब जाओ कि आप विसर्जित हो जाओ और केवल इष्ट देव ही रहे। खो जाओ अपने इष्टदेव में। भूल जाओ अपने आप को। हाँ उससे बातें मत करना। कुछ मांगने की कोशिश मत करना। ध्यान में जब इष्टदेव का साक्षात्कार हो तब किसीके लिए या भावावेश में प्रार्थना भी मत करने लगना। सिर्फ उतरते जाओ उस स्वरूप में डूबते जाओ उसमें, तल्लीन हो जाओ, आप इष्टदेव रूप बन जाओ।

इष्टदेव से आपकी तन्मयता घटित होते ही मन विसर्जित हो जाएगा और आशीर्वाद बरसने लगेंगे। जिससे आप शांति प्रसन्नता, मौन और आनंद के जगत में प्रवेश कर लेंगे। वही मोक्ष के पल हैं।

## धारणा - ७८

### श्रवण ध्यान

प्रिय साधको !

अब हम जा रहे हैं श्रवणध्यान की ओर। एक बात हमेशा याद रखना ! निःशब्द के बीच में ही शब्द की संभावना है। शब्द का अर्थ यहाँ कोलाहल से नहीं है। कैसे भी शब्दों से नहीं है। परंतु यहाँ शब्द से तात्पर्य है – शब्द से ध्वनित भाव का आंतरिक स्तर पर होता हुआ अर्थ घटन और उसके अनुसार भावों का उत्पन्न होना। शब्दों का असर आना। भीतर प्रतिक्रिया घटना, शब्द की प्रतिक्रिया शांति भी हो सकती है, अशांति भी। प्रेम भी हो सकता है, घृणा भी हो सकती है शब्द भी हो सकते हैं और मौन भी।

आपके भीतर जब निःशब्द की अवस्था होती है तभी आप शब्दों का सही अर्थघटन कर पाते हैं। आपका मस्तिष्क और मन तथा कान जब आप शब्द को देंगे तभी कुछ अर्थ घटन होने की तथा अर्थ के अनुसार भावों को उत्पन्न होने की संभावना है। किसी भी बात की ओर स्वस्थ चित्त से दिए हुए कान ही सम्यक अर्थघटन कर सकते हैं।

वैसे तो दिनभर हजारों हजारों शब्द आपके कानों के साथ टकराते रहते हैं। उन सारी ध्वनियों की ओर आदमी अगर ध्यान देने लगेगा तो पागल हो जाएगा। आज के युग में मनुष्य असंख्य निरर्थक शब्द और ध्वनियों के बीच में जी रहा है। जब आप बाजार में निकलते हैं तो हजारों हजारों प्रकार की आवाज मिलकर शोर बन जाती हैं। मनुष्य को आदत हो गई है ऐसे शोर को सहन करने की। आज का मनुष्य उस शोर का हिस्सा बन गया है। आपके मन ने उसका अस्वीकार करते हुए भी उसका स्वीकार कर लिया है।

अस्वीकार इसलिए कह रही हूँ कि आप उस शोर के अर्थघटन में नहीं पड़ते हैं। फिर भी वह आपके कानों से और मन से टकराकर निकल जाता है परंतु आप उसके प्रति ज्यादा लक्ष्य नहीं देते हैं। और स्वीकार इसलिए कह रही हूँ कि आप उसका विरोध भी नहीं करते हैं। आप कोशिश नहीं करते हैं ऐसे शोर और बकवास से दूर रहने की। आपके कान में निरर्थक शब्दों को डालने वालों को रोकने की हिम्मत आपमें नहीं है। आपको डर है कि अगर आप विरोध करेंगे तो आपकी तकलीफ बढ़ेगी! लोग नाराज हो जाएंगे आपसे!

अगर आपको विरोध करना है ही तो आप उसका त्याग करके उसका विरोध कर पाएंगे। अर्थात् भीड़ और बाजार का शोर कभी बंद नहीं होगा। आपको बाजार जाना बंद कर देना पड़ेगा, भीड़ में आना जाना बंद कर देना पड़ेगा। परंतु आप ऐसा भी नहीं कर सकते। ना उसके लिए साक्षी बन सकते हैं।

हाँ! कुछ लोग चले जाते हैं भीड़ से दूर। वे लोग भीड़ या बाजार में जाना पसंद नहीं करते। ऐसे लोग चीजों के बिना चला लेते हैं। सुविधाओं के लिए अशांति सहन करने से वे असुविधाओं में मिलती शांति को ज्यादा पसंद करते हैं। परंतु साधारण मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। वे अशांति से समाधान कर लेते हैं। शोर सहन करने की आदत डाल लेते हैं। धीरे धीरे शोर खड़ा करने की भी आदत हो जाती है उन्हें। वे शोर का लाभ लेकर अपनी बक बक करने की भड़ास भी निकाल लेते हैं। उसके साथ घटती सुबह से शाम तक की सारी घटनाओं का चितार बिना मांगे देते रहते हैं। कुछ लोग चिल्ला चिल्लाकर बोल लेते हैं। ऐसा करने में उन्हें अपराध भाव का बिलकुल अनुभव नहीं होता। उन्हें ऐसा कभी नहीं लगता कि वे कुछ गलत कर रहे हैं। क्योंकि जिस समाज में जो काम हर कोई कर रहा हो वह कार्य सर्वमान्य और स्वीकृत बन जाता है।

अकारण शोरगुल और हल्ला मचाना इसे मैं एक प्रकार का असामाजिक व्यवहार कहती हूँ। परंतु भीड़ में सब स्वीकृत जो जाता है जैसे कि आज के मनुष्य को ऐसा करना बिलकुल असामाजिक नहीं लगता। क्योंकि हर कोई कर रहा है। जैसे शराबी को समाज में शराब पीना सामान्य बन जाता है, जुआरियों के समाज में जुआ ही कर्म बन जाता है, और वैश्या के समाज में व्यभिचार ही धर्म कहलाता है, वैसे ही बोलने की कला में अजाग्रत लोगों को शोर स्वाभाविक लगता है। ज्यादातर लोगों को पता ही नहीं होता कि एक आदमी दूसरे आदमी के साथ बात कर रहा है तो उन्हें पता तक नहीं होता है कि उन्हें कितने वोल्यूम में बोलना है। जो बहरे नहीं है ऐसे लोग भी ऊंची आवाज में बोलते रहते हैं। एक आदमी के साथ बात करने के लिए भी कुछ लोग दस आदमी सुन सकें इतनी ऊंची आवाज से बोलते हैं। ऐसी स्थिति में सामने वाला धीरे धीरे बोलेगा तो बात का वजन नहीं पड़ता है। जैसे कुछ लोग ज्ञान को बौद्धिकसामग्री के रूप में नापते हैं वैसे ही कुछ लोग केवल ऊंची आवाज में ही अपनी बात का वजन पड़ेगा ऐसा मानते हैं।

ऐसे आदमी के साथ संवाद करना एक सजग मनुष्य के लिए बहुत कठिन बन जाता है। ऐसी स्थिति में ध्यान से सुनना संभव ही नहीं होता। क्योंकि जब बेध्यान आदमी बोल रहा हो तब क्या ध्यान देना? ऐसी स्थिति में जब सुनने की क्रिया भी शांति से नहीं हो पाती है तो श्रवण तो कैसे संभव बनेगा? श्रवण में तो कान के साथ चित्त भी देना होता है, हृदय भी देना होता है परंतु हर आदमी की आवाज को अथवा हर आदमी की बात को आप अपना चित्त नहीं दे सकते।

प्रिय साधको!

रोज़-ब-रोज़ की साधारण बातों को सुनना यह श्रवण नहीं है। कभी कभी आप स्वार्थ के संदर्भ में, कभी शिष्टाचार के लिए या दूसरे का मान रखने के लिए ज़ोर ज़ोर से बोलने वाले को भले सहन कर लें, परंतु वहाँ संवाद नहीं हो सकता। संवाद यह है कि जो दो व्यक्तियों के बीच में सम्यक रूप से घटित हो रहा हो। जहाँ उद्देश्य के साथ बोला जा रहा हो। जहाँ उद्देश्य की पूर्ति के लिए निष्कर्ष निकाला जाए और सुख, शांतिपूर्ण परिणाम प्राप्त हो। अगर ऐसा है तो उसे 'डायलॉग' कहेंगे बाकी को 'मोनोलॉग' है। मोनोलॉग का अर्थ है स्वगत बोलना। कुछ लोग दूसरे के साथ बात करते हैं परंतु उनका एक ही ध्येय होता है 'मेरी आवाज सुनो।' वे अपने मन की भड़ास को निकालना चाहते हैं। वे न पची हुई बातों की उल्टियाँ करना चाहते हैं। अथवा अपने स्वार्थ के लिए एक ही बात को बार बार - बार बार दोहराकर दूसरे को कुछ ट्रीटमेंट देना चाहते हैं। उसका ईरादा दूसरों के मन में अपनी बात ठसाना होता है। वे ये कभी नहीं सोचते हैं कि दूसरा क्या चाहता है? दूसरा क्या कहना चाहता है? दूसरे के मन में क्या है? ना! वे तो बकते ही जाते हैं। सच या झूठ के साथ उन लोगों का कोई लेना देना नहीं होता। वे बोले वही

सच। जनरली मिलेट्री में, पुलिस में, राजनीति में और धर्मजनूनी समूह में ऐसे लोग ज्यादा होते हैं। डिक्टेटर और मार्कस्वाद में भी ऐसे लोग देखे हैं। ऐसे लोगों की बात कानून बन सकती है, क्रांति बन सकती है परंतु श्रवण नहीं बन सकती। ऐसे लोगों की आवाज से कोई शांति, कोई प्रसन्नता, कोई आत्मदर्शन या आध्यात्मिक आनंद प्राप्त नहीं हो सकता। उन लोगों की आवाज सिर्फ आपका उपयोग करना चाहती है। वे भीड़ को भड़का सकते हैं, मनुष्य को शांति नहीं दे सकते हैं। वे लोग आक्षेप, प्रतिआक्षेप और बिना मांगे अपने बारे में सफाई देते रहते हैं। वे अपना हेतु सिद्ध करने के लिए उनके पक्ष में आपके मन को तैयार करते हैं।

प्यारे साधको!

अगर आपकी खोज परम सत्य है, परम शांति है और आनंद है तो ऐसी आवाज से सावधान रहना, दूर चले जाना। क्योंकि ऐसी आवाज मनुष्य की समझ को मूर्छित करती है और चित्त को बेध्यान करती है।

मैं कहती हूँ कि सिर्फ कमजोर आदमी चिल्ला चिल्लाकर बात करता है। जिसे अपनेआप पर विश्वास नहीं है ऐसा आदमी आवाज पर जोर देता रहता है। जिसके पास सत्य का बल है, जिसके हृदय में शांति है और जो साधना की ऊंचाई तक पहुंचा हुआ है ऐसा मनुष्य सम्यक स्वर में बात करता है। ऊंची आवाज से अति साधारण लोग शायद प्रभावित हो सकते हैं परंतु जिसके पास शांति की थोड़ी बहुत भी झलक है जो वास्तव में बौद्धिक और समझदार है ऐसे मनुष्य के हृदय तक अपनी बात पहुंचाने के लिए आपके शब्दों में माधुर्य, प्रभावकता, सच्चाई, सरसता और भाषा की सरलता की जरूरत है।

मैं कहती हूँ कि वाणी से मौन ज्यादा बलवत्तर है। शब्द से ज्यादा निःशब्द में शक्ति है। बोलना तभी सार्थक होता है जब कोई सुनने वाला हो। शब्द का अर्थ तभी हो सकता है जब आपका चित्त निःशब्द हो।

प्रिय साधको!

एक बात हमेशा याद रखना। सुनना लौकिक है, श्रवण परालौकिक। सुनना संसार में अनिवार्य हो जाता है, श्रवण स्वेच्छिक होता है। सुनने की क्रिया में मन शब्दों से भरा होता है और फिर भी अन्य के विचार शब्द के रूप में आदमी थोड़ा बहुत ग्रहण करता है थोड़ा बहुत फैक देता है। लोग ऐसी स्थिति में हैं कि उन्हें फालतू शब्दों को भी ग्रहण करना पड़ता है। कम से कम दिखाना तो पड़ता है कि वह अगले को ध्यान से सुन रहा है। क्योंकि वह इस तरह से नीतिओं की भरमार में और व्यवहार की जाल में फंसा है कि उसके लिए अन्य कोई उपाय नहीं। मृत्यु तक मनुष्य जबरदस्ती सुनता रहता है और बोलता रहता है। स्वाभाविक है, अपने साथ जैसा होता है ऐसा ही व्यवहार साधारण मनुष्य दूसरे के साथ करता है। स्वार्थ, आसक्तियाँ, अतीत की स्मृतियों की अभिव्यक्ति, भावी योजनाओं की चिंता को व्यक्त करना और विविध मनोभाव का स्खलन और दलदल एक जंगली दलदल जैसा है।

विश्व में अनेक अवतार, तीर्थंकर, पयगंबर, साधु, संत, औलिया, फकीर हुए जिन्होंने एक या दूसरे ढंग से शांति दी है और शांति सिखाई है परंतु मनुष्य आज तक बकवास के दलदल से बाहर नहीं आ पाया है। वह मजबूर है सुनने सुनाने के लिए। क्यों? क्योंकि ध्यान का अभाव है।

प्यारे साधको!

ऐसा नहीं है कि उस दलदल से बाहर आने का रास्ता नहीं है। रास्ता तो है मगर मनुष्य चाहता नहीं है उस रास्ते पर चलना। अगर आप चाहें तो अपने कानों का आपके आध्यात्मिक विकास के लिए सदुपयोग कर सकते हैं। अगर आप चाहें तो आपके हृदय और मस्तिष्क को शांति दे सकते हैं। परंतु उसके लिए मौन की साधना, सच्चे श्रवण की खोज और श्रवण को ध्यान बनाना पड़ेगा। सुनने की क्रिया को श्रवण की अवस्था तक ले जाने के लिए आपके मन को और आदतों को 'यू टर्न' लेना पड़ता है।

प्यारे साधको!

मन हमेशा शब्द, विचार और दृश्यों में भटकता रहता है। उसका स्वभाव है बाहर भटकना। नए अर्थ में कहूँ तो चेतना का बाहर की ओर भटकना मन है और भीतर की ओर समेटना है, ध्यान।

मन हमेशा आपसे विपरीत चलता है। लोग कथा, सत्संग में जाते हैं। वहाँ दो दो चार चार घंटे कथा सुनने के बाद भी बातें क्यों करने लगते हैं? आप उन बातों को कभी एक अभ्यास की दृष्टि से सुनना। सत्संग में से छूटकर वे जो बातें करते हैं उसमें अपने मन की भड़ास होती है। चार घंटा सत्संग के बाद ऐसा हो सकता है! वास्तव में सत्संग में केवल शरीर बैठा था। मन तो लगा ही नहीं था। चार घंटों तक मन दमित हुआ था। धर्म सभा में वक्ता ने अनुशासन दे दिया था कि कोई अन्दर अन्दर बातें नहीं करेंगे, सब शांत बैठेंगे। लेकिन अशांत लोग शांत कैसे

बैठ सकते हैं? अगर कथाकार के कहने मात्र से लोग शांत हो जाएं तो पूरा खेल वहीं ही खत्म हो जाएगा। शांति में प्रवेश हो जाने के बाद उपदेश या कथा वार्ता की क्या जरूरत? हकीकत में वक्ता को विक्षेप न हो इसलिए वह शांति चाहता है और सभा में आ गए हैं इसलिए शिष्ट दिखने के लिए लोग शांति औढ़ लेते हैं ताकि वक्ता – श्रोता दोनों खुश!

हकीकत में मन को तो शांत बैठना ही नहीं था। मैं कहूंगी कि जबतक अशांति है तब तक ही मन का अस्तित्व है। शांति के जन्म के साथ ही मन की मृत्यु होती है। परंतु साधारण जन के लिए ये सब बातों को समझना बहुत कठिन हो जाता है। और अशांत लोगों को सत्संग में बिठाने के लिए शास्त्र ने कथा श्रवण के लिए शांति को एक नियम के रूप में दे दिया। वह एक औपचारिकता बन गई। इस औपचारिकता को शांति तो नहीं परंतु चुप रहने का अभ्यास कह सकते हैं। यह एक अर्थ में दमन ही है। योग मार्ग दमन के पक्ष में है। तंत्र दमन में बिल्कुल नहीं मानता, वह स्वच्छंदता में जीने को स्वीकार करता है।

पुराणकार करीब करीब योग के पक्ष में है। कथा में चुप बैठने का अभ्यास कराने के लिए पुराण ने भय भी बताया।

निंदा विघ्न करे फिरे उच्चासन आराम।

अजगर वायस सुकर गधा वृक्ष योनि तेहि ठाम।।

पुराण ने कहा कि कथा में बैठकर जो किसीकी निंदा करता है वह दूसरे जन्म में अजगर बनकर पैदा होता है। जो कथा सत्संग में विघ्न करता है वह कौआ बनता है, जो कथा में घूमता फिरता है उसे सूअर की योनी मिलती है। जो सत्संग में वक्ता से ऊंचे आसन पर बैठता है वह गधा बनकर पैदा होता है। और जो कथा के दौरान लंबा होकर सो जाता है वह वृक्षयोनि को प्राप्त करता है।

अस्वस्थ, चंचल, बातून, निरंकुश, आलसी और मूढ़ मनुष्यों को सत्संग में स्थिर करने के लिए ऋषियों को ऐसा भय दिखाना पड़ा। परंतु मैं तो कहती हूँ कि सत्संग में निंदा करने वाला, विघ्न करने वाला, खड़ा होकर बार बार घूमने वाला, वक्ता से ऊंचे आसन पर बैठने वाला और लंबा होकर पड़े पड़े कथा सुनने वाले को अजगर, कौआ, सुअर, गधा या वृक्ष बनने की जरूरत नहीं है। ऐसे लोग मनुष्य होते हुए भी पशुवृत्ति और जड़ता का शिकार हैं।

मनुष्य को चोट न पहुंचे इसलिए ऋषिओं ने थोड़ी अलग भाषा में कहा लेकिन पुराण की भाषा ५००० वर्ष पुरानी है। आज का मनुष्य शिक्षित और सामाजिक दिखते हुए भी इतना जड़ हो गया है कि उसे चोट पहुंचानी जरूरी है। उसे जगाने के लिए यह भी एक रास्ता है।

प्यारे साधको!

जब आप श्रवण को समर्पित होते हो तब श्रवण के दौरान तो शांत होते ही हो परंतु श्रवण के बाद विशेष रूप से शांति छा जानी चाहिए। परंतु आप तो सत्संग में से छूटकर चार गुना बोल लेते हो। इसका अर्थ है आप श्रवण को समर्पित थे ही नहीं। समर्पण तो यह है कि जहाँ मन और बुद्धि विसर्जित हो जाएं। मन और बुद्धि के विसर्जन की क्षण में केवल निःशब्द का जगत बचता है, इन्द्रियाँ शांत हो जाती हैं। परंतु आपके साथ सत्संग में जाने पर भी ऐसा नहीं हुआ।

क्योंकि आप वहाँ सत्संग के द्वारा ध्यानस्थ होने के लिए गए ही नहीं थे। श्रवण को ध्यान बनाने के लिए या श्रवण को समर्पित होने के लिए गए ही नहीं थे। आप तो कथा सुनने के लिए गए थे। आप धार्मिक मनोरंजन के लिए गए थे। आप आपका समय भगवान के नाम पर भीड़ में व्यतीत करने गए थे। सत्संग के नाम पर घर से छूटने के लिए आदमी अच्छा बहाना बना लेते हैं। सत्संग सुनते सुनते आपका मन तो प्लस माइन्स करता रहता था। वह श्रवण नहीं कर रहा था। वह तो बीच बीच में सत्संग की विषयवस्तु की भाषा की, और दो वक्ताओं की शैली की तुलना कर रहा था। कभी कभी आपका मन अनावश्यक आलोचना करने में पड़ा था और अपनी धारणाओं के अनुसार वक्ता के वचनों का अर्थघटन कर रहा था। ऐसा मन संत के चरण में बैठकर भी कुछ नहीं पा सकता।

जगत में तीन प्रकार के लोग हैं। एक भय से समझते हैं। ऐसे लोगों के लिए शास्त्र का भय अथवा दंड काम करते हैं। दूसरा प्रेम से समझते हैं। अंगुलीमाल और गोशालक जैसे को बुद्ध और महावीर ने प्रेम और करुणा से रूपांतरित किये हैं। तीसरा अपनी समझ विकसित करके किसी भी बात को ज्ञान से समझते हैं। ऐसे लोगों के लिए योग और तंत्र दो मार्ग हैं। तंत्र द्रुतगति मार्ग है, योग अपनेआप बनाए हुई पगडंडी है, वह संघर्ष का मार्ग है। वहाँ साधक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा जैसे एक एक कदम आगे बढ़कर ध्यान को प्राप्त होता है और अंत में ध्यानी का समाधि में प्रवेश हो जाता है।

निःशब्दावस्था तभी घटित हो सकती है जब मनुष्य अपने कानों को बंद करना सीख ले। मन को शांत करना सीख ले। शब्द भी दो प्रकार के होते हैं – एक आपके बाहर गूंज रहा है, दूसरा आपके भीतर चल रहा है। दोनों का शून्य हो जाना ही वास्तविक निःशब्दावस्था है। कानों को बंद करने का अर्थ है, निरर्थक शब्द आपके भीतर न पहुंच पाएं। योग की भाषा में कहूँ तो वह इन्द्रियों की शक्तियों को अंतरमुखी



करने की साधना है, जिसे योगशास्त्र 'प्रत्याहार' कहता है। पतंजलि कहते हैं कि प्राणायाम के बाद प्रत्याहार में प्रवेश न हुआ तो आपकी योगयात्रा अधूरी है। मैं कहती हूँ कि वास्तव में इन्द्रियाँ तो एक उपकरण हैं, साधन हैं। इन्द्रियों को आपके द्वारा ही ऊर्जा मिलती रहती है। आप अपनी चेतना को मोड़ लो अपने भीतर, तब इन्द्रियाँ शीघ्र ही क्षीण हो जाएंगी। इन्द्रियों को क्षीण करने का अर्थ यह मत करना कि शरीर को कमजोर बना देना है। परंतु जहाँ इन्द्रियाँ आप पर हावी हो रही हैं, वहाँ अनावश्यक रूप से हावी हो रही शक्तियों को डायवर्जन देकर आध्यात्मिक विकास में इसका इस्तेमाल कर लेना है। समझ के साथ इन्द्रियों को अनुशासित करना है। जहाँ जरूरत न हो वहाँ इन्द्रियों को भेजो मत। इन्द्रियों के साथ भागो मत। और इन्द्रियों को ऊर्जा मत दो। उसके प्रति ज्यादा लक्ष्य न दो।

ज्यादातर लोग जीवनभर कुछ गलतियाँ करते रहते हैं। और वे गलतियाँ ये हैं कि वे अपनी इन्द्रियों के प्रति ही अपनी ऊर्जा को केन्द्रीभूत करते रहते हैं। लोग कहते हैं कि विश्व विकसित होता जा रहा है। मैं कहती हूँ कि मनुष्य दिन ब दिन इन्द्रियलक्षी होता जा रहा है। अर्थात् विश्व स्वकेन्द्रि और छोटा होता जा रहा है। मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के अभाव में हर विकास विनाश को न्यौता दे सकता है।

इन्द्रियलक्षी में से आपको आत्मलक्षी बनना ही पड़ेगा और इसलिए आपको ध्यान में प्रवेश करना पड़ेगा। जब आप आत्मलक्षी बनना ठान लेंगे, अंतर्मुखी होने की महिमा को समझ लेंगे तब ध्यान कठिन नहीं लगेगा। फिर ध्यान कोई भारी भरकम विधि नहीं लगेगी। फिर आपको ऐसा कभी नहीं होगा कि हम ध्यान के लिए नहीं हैं। जब आप अंतर्मुखी होने के आध्यात्मिक लाभ को समझ लेंगे तब आपके लिए ध्यान आसान बन जाएगा, एक उत्सव बन जाएगा, एक अवसर बन जाएगा।

प्यारे साधको !

हर मनुष्य ध्यान में सीधा छलांग नहीं लगा सकता और ऐसी स्थिति में पतंजलि द्वारा किया दिशा दर्शन सम्यक लगता है। उसने मनुष्य को अध्यात्म की एक एक सीढ़ियाँ चढ़ना सिखाया। पतंजलि की बात आ ही गई है तो फिर से एक बात ध्यान से समझ लीजिए की पतंजलि ने कसरत या शारीरिक उठापटक को योग नहीं कहा है। पतंजलि के नाम पर आज कई लोग अपने मालपूए पकाकर लोगों को मूर्ख बना रहे हैं। धर्म के नाम पर अपनी खिचड़ी पका लेना यह भी एक धार्मिक अपराध है। फिर भी अपना अस्तित्व टिकाने के लिए किसीने धर्म को आजीविका बना लिया तो क्षम्य है। परंतु आज पतंजलि को बेचने वाले लोगों की भूख इतनी बढ़ गई है कि उनका पेट खिचड़ी से नहीं भरता। पतंजलि कुछ और कहना और करना चाहते थे परंतु लोगों ने कुछ और ही कर दिया। पतंजलि कहते हैं कि चित्त की वृत्तियों का समाप्त हो जाना ही योग है। और योग का काम करने वाले साधु-बाबाओं की वृत्तियाँ असीम बन गई हैं। वर्तमान में योग को लेकर समाज में जिस हद तक नासमझी फैलाई गई है, उसे सुधारते हुए भारत को सैंकड़ों साल लग जाएंगे।

प्रिय साधको !

जब किसी भी चीज़ को आप समाप्त करना चाहो तो सबसे पहले उसके प्रति लक्ष्य देना बंद कर दो। पतंजलि कहते हैं कि योग मन की वृत्तियों की समाप्ति है। तो मैं कहती हूँ कि समाप्ति तक पहुंचने के लिए आप मन के प्रति ध्यान न दो। आप कहेंगे कि हम ध्यान नहीं देना चाहते हैं परंतु मन खिंचा चला जाता है चीजों के प्रति, योजनाओं के प्रति और हमें भी खींच लेता है उसकी ओर। बात सही है, ऐसी स्थिति में आप, आपका मन और इन्द्रियों के बीच में संघर्ष पैदा होता है। कैसे मुक्त होंगे उस संघर्ष से ?

मैं कहती हूँ कि संघर्ष के जरिए प्राप्त की हुई शांति महंगी पड़ती है। समझ और जाग्रति के जरिए भी आप शांति को पा सकते हैं। आपको प्रश्न उठेगा कि यह समझ और जाग्रति कहाँ से आएंगे ? मैं कहती हूँ – ध्यान से।

ध्यान शास्त्र आपको कोई न कोई एक ऐसी विधि दे देता है जो विधि आप और आपके मन के बीच में काम करने लगती है, वो मन को एक नया ही विषय दे देती है; जिसे योग की भाषा में धारणा कहते हैं। मन उस विधि में प्रवेश करने को तैयार हो या ना हो परंतु आपको मन की परेशानियों से छूटना है इसलिए आप अपनी ऊर्जा, अपना भाव, अपने प्राण विधि को देने लगेंगे। और तब मन क्षीण हो जाएगा। धीरे धीरे मन भी विधि में विलीन हो जाने लगेगा क्योंकि आपका मन आपसे अलग नहीं है। जैसे ही मन क्षीण होकर शांति के साथ विधि में तल्लीन होता जाएगा वैसे ही संघर्ष समाप्त हो जाएगा।

प्यारे साधको !

ध्यान मार्ग तीव्र गति अथवा उड़ान का मार्ग है। वहाँ बहुत सारी चीज़ें नीचे छूट जाती हैं और आपके जीवन में उन चीजों के रहते हुए भी आप उन चीजों से ऊपर उठ जाते हो। इस बात को आप अनुभव के द्वारा ही समझ पाएंगे। और ऐसा मज्ञे का अनुभव लेने के लिए आपको ध्यान में उतरना पड़ेगा।

प्रिय साधको !

श्रवणध्यान एक अति सुंदर, सहज फिर भी आपका पूर्ण समर्पण और सजगता मांग ले ऐसी विधि है। सजगता इसलिए कि जब तक आप श्रवण को एक विधि की तरह नहीं लेंगे तब तक आपका मन और मस्तिष्क बीच बीच में अभिप्राय देता रहेगा। वह आपके सुनने को श्रवण नहीं बनने देगा। शब्द आपके कानों के मार्ग से सीधा मस्तिष्क की ओर चला जाएगा और मस्तिष्क अपने हिसाब से शब्दों का अर्थघटन और मूल्यांकन करने लगेगा। अपने दायरे के बाहर के सत्यों का मस्तिष्क अवमूल्यन करता रहेगा अथवा वह उन सत्यों को नकार देगा। वह शास्त्रों को अर्थहीन कर देगा। जैसे पारद के स्पर्श से शुद्ध सोना भी लोहे जैसा बन जाता है, ठीक वैसे ही।

संतवचन अथवा शास्त्रवचन आपमें एक भिन्न प्रकार के रसायनों को जन्म देता है और मस्तिष्क बिल्कुल उससे विपरीत रसायनों को पैदा कर देगा। ऐसी परिस्थिति में आपका श्रवण ध्यान नहीं बन पाएगा और सत्संग सुनना बेकार जाएगा। परंतु आप जब श्रवण को ध्यान की तरह लेंगे, एक विधि की तरह लेंगे तब आप श्रवण में आने वाले वचनों का समग्रता से स्वीकार करेंगे। वह स्वीकार बुद्धि से नहीं परंतु हृदय के द्वारा होगा। श्रवण के द्वारा आए हुए शब्दब्रह्म रूपी बीज सीधे ही आपकी भावभूमि में चले जाएंगे। जो भूमि आपके श्रवण को उगने का, पनपने का, खिलने का, फलित होना का मौका देती है। मस्तिष्क कभी भी किसी भी बात का सीधा स्वीकार नहीं करता। उसका स्वभाव है कि हर चीज को बुद्धि की कसौटी पर चढ़ाना। मस्तिष्क परमात्मा को भी कसौटी पर चढ़ाता है। मस्तिष्क कहता है कि मेरे द्वारा ली गई परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले भगवान ही सही भगवान हैं। परंतु याद रहे! भगवान तो हमेशा दिल के रास्ते से आते हैं, मस्तिष्क के रास्ते से नहीं। कभी कभी तो मस्तिष्क भगवान की परीक्षा कर लेने के बाद भी और भगवान के उत्तीर्ण हो जाने के बाद भी अहंकार की वजह से स्वीकार नहीं कर सकता।

रामायण में एक प्रसंग आता है – महादेव की पत्नी सती प्रबुद्ध राम को सीता के विरह में रोते हुए देखकर राम की भगवदत्ता के लिए शंकित होती हैं और उनको एक स्त्री विरह में पीड़ित साधारण पुरुष समझकर उसकी पत्नी का रूप धारण करके राम के ज्ञान की परीक्षा लेने जाती हैं। राम पहचान भी लेते हैं और सती का आदर करके उन्हें अपने कृत्य के लिए कम से कम संकोच हो ऐसा व्यवहार भी करते हैं। परंतु मस्तिष्क की सत्ता में दबी हुई सती राम के ब्रह्मत्व को जान लेने के बाद भी उसका स्वीकार नहीं कर सकती।

प्यारे साधको !

अहंकारग्रस्त बुद्धि सत्य की शरण में भी नहीं जा सकती। अहंकार से भरा मस्तक अगर किसीकी शरण में भी जाएगा तो उसके लिए वह शीर्शासन बन जाएगा। ऐसी शरणागति ज्यादा देर तक टिक नहीं सकती। आखिर सर के बल कोई कब तक खड़ा रह पाएगा। शरण में तो हृदय जा सकता है। हृदय जब किसीको समर्पित हो जाता है तब सर झुककर हृदय के स्तर में आ जाता है।

मैं कहती हूँ कि हृदय भले कोमल हो, फिर भी मस्तिष्क से ज्यादा सक्षम है। हृदय मस्तिष्क को झुका सकता है। परंतु मस्तिष्क लाख कोशिश करने के बावजूद भी हृदय को नहीं झुका सकता।

मैंने सुना है कि हिटलर को किसीसे प्रेम हो गया। उसने प्रेम विवाह भी किया। यह संभव है परंतु हिटलरशाही से कोई आपको प्रेम नहीं कर सकता और ना ही आप किसीके प्रेम में पड़ सकते हैं। हिटलरशाही चलाने वाला हिटलर अलग होगा और प्रेम के क्षण में वही हिटलर बिल्कुल अलग होगा।

मेरे अनुसार श्रवण ध्यान सजगता मांग लेता है। इसका अर्थ यह नहीं कि आपको बुद्धि से सजग रहना है। ना! आपको केवल इतना सजग रहना है कि आपकी बुद्धि आपके श्रवण में चंचुपात न करे। तर्क वितर्क करके श्रवण के आनंद में विक्षेप न पहुँचाए।

और आपको समर्पित होना है विधि के प्रति। अर्थात् श्रवण को ध्यान विधि बना लेना है। श्रवण ध्यान में सजगता और समर्पण के उपरांत भी किसीकी जरूरत रहेगी और वह है सत्योपदेशक। जब कोई वक्तव्य देने वाला हो तभी ही आप श्रोता बन पाएंगे। आपके सामने जब वक्ता वक्तव्य दे रहा है तभी आपका श्रवणध्यान संभव हो पाएगा।

प्यारे साधको !

बोलते तो सब हैं, परंतु कुछ भी बोलने वाले को हम वक्ता नहीं कह सकते। बोलने वालों के तीन प्रकार हैं। एक कुछ भी बोलता रहता है, उसे बोलना ही है, वह बोले बिना नहीं रह सकता। वह जब तक बक बक करता है, तब तक उसे लगता है कि वह जिन्दा है। उसको विषय वस्तु, वातावरण, शब्द के प्रकार और प्रभाव से कुछ लेना देना नहीं होता। उन्हें केवल बोलना है। वे कुछ भी बके जाते हैं।

दूसरे प्रकार के लोग बोलने को एक कला के रूप में लेते हैं। वो बोलने को अभिनय बना देते हैं। वे लोग दूसरों को प्रभावित करने के लिए बोलने का आयास, प्रयास और अभ्यास करते हैं। उन्हें अभ्यास करना पड़ता है, वे आईने के सामने खड़े रहकर रिहर्सल करते हैं। उनकी

वाणी और हावभाव आपमें एक सम्मोहन पैदा करते हैं। आपको मोह लेते हैं। उनका बोलना आपको अच्छा भी लगता है। आप उनकी 'डायलोग डिलीवरी' की तारीफ भी करते हैं फिर भी वह वाणी आपको प्रगाढ़ शांति में नहीं ले जा सकती।

सम्मोहित करना और मोहमुक्त करना वे दोनों विपरीत बिन्दु की बात हैं। कुछ लोगों के पास बोलने की कला होती है परंतु ऐसी वाणी नाटकीय लगती है। अक्सर राजनेता, अभिनेता, अभिनेत्रियाँ, सामाजिक कार्यकर्ता, यूनियन लीडर्स और विभिन्न प्रकार के आंदोलन चलाने वाले तथा शिक्षण कार्य में जिसकी दिलचस्पी है ऐसे लोग बोलने को एक कला की भांति विकसित करते हैं। जिसका बोलना आपके मस्तिष्क को प्रभावित करता है।

तीसरे प्रकार के लोग हैं, वक्ता। श्रोता और वक्ता दोनों शब्द भारतीय वेद ने दिए हैं। भारतीय धर्म साहित्य में वक्ता का अर्थ ज्ञानी, ऋषि अथवा प्रबुद्ध उपदेशक ही होता है। उन्हें बोलने के लिए कभी प्रेक्टिस नहीं करनी पड़ती है। वे दूसरों को प्रभावित करने की कभी कोशिश नहीं करते हैं। उनकी वाणी से लोग स्वयं और स्वतः प्रभावित होने लगते हैं। अपनी बात को आपके दिमाग में ठसाने के लिए उन्हें तर्क वितर्क का सहारा नहीं लेना पड़ता। न वे खंडन-मंडन में पड़ते हैं, ना वाद विवाद में। 'अपनी बात सत्य ही है' – ऐसा उन्हें कभी सिद्ध नहीं करना पड़ता। उनके द्वारा स्वाभाविक ही सत्य का अनुमोदन होता है। उनके द्वारा सत्य बहता है। उनके इर्द गिर्द असत्य की कोई गुंजाइश ही नहीं होती है। वे जो बोलते हैं वह सहज सत्य होता है। ऐसे वक्ता को न कुछ रटना पड़ता है और ना ही शास्त्रों पर ज्यादा आधार रखना पड़ता है। उनके लिए शास्त्र सर्वस्व नहीं परंतु एक माध्यम मात्र हैं। शास्त्रों में लोगों की अपार आस्था होने के कारण वे शास्त्रों के माध्यम से जगाते रहते हैं फिर भी उनके लिए शास्त्र का विषय गौण बन जाता है और आध्यात्मिक जाग्रति केन्द्र में होती है। वे धर्म संप्रदाय की संकुचितताओं से पर होते हैं। उनके मन में हिन्दु, मुस्लिम, जैन, बौद्ध, ईसाई जैसे मानवसर्जित धर्मों का भेद नहीं होता और मनुष्य के कल्याण के लिए वे हर विषय पर बोल लेते हैं। सच तो यह है कि ऐसे लोग जो बोलते हैं वही शास्त्र बन जाते हैं। क्योंकि उनके पास स्पष्ट दृष्टि और धर्म की सही समझ होती है।

ऐसे ज्ञानीजन शास्त्र को कम पढ़ते हैं और मनुष्यमन को ज्यादा। ऐसे वक्ता बड़े करुणावान होते हैं। कभी कभी उनके अनुशासन में श्रवण करना कठिन लगता है। कभी उनके द्वारा की गई कटु आलोचना से मनुष्य को चोट भी पहुंचती है, लगता है कि वे शब्दों से फटकारते हैं। और एक अर्थ में वह फटकारना ही होता है।

तुलसी ने कहा –

जिन्ह हरि कथा सुनि नहीं काना

श्रवण रंघ्र अही भवन समाना।

–जिसने अपने कानों से भगवना के गुणगान नहीं सुने हैं ऐसे मनुष्य के कान के छिद्र सांप के बिल के समान हैं।

कबीर ने कहा –

मस्जिद जाकर मुल्ला पुकारे क्या साहेब तेरा बहरा है।

–कबीर जैसे वक्ता के सत्संग को सुनना और उनके कटु सत््यों को पचाना साधारण मनुष्य के लिए कठिन बन जाता है।

मैं मैं बकरी करत हैं ताकी काढी खाल

जो जन बकरी खात है ताके कौन हवाल

दुनियां कहती है कबीर अनपढ़ था। वह ना कोई वेदांती था न ही कोई पंडित। वे खुद कहते हैं

मसि कागद छुयो नहीं, कलम गही नहीं हाथ

फिर भी मैं कह सकती हूँ कि कबीर जब बोलते होंगे तब एक श्रेष्ठ वक्ता की भांति उनकी वाणी का असर भक्तों पर आता होगा। अहिंसा की बात को रोज़-ब-रोज़ घटित हुई हिंसा की घटना के द्वारा मनुष्य को समझा देना यह कोई साधारण बात नहीं है। कबीर अहंकारी और हिंसक मनुष्य को एकसाथ निशान बनाते हुए कहते हैं कि बकरी तो अबोध है और 'मैं' 'मैं' करती है। अबोधपन में 'मैं' 'मैं' करने वाली बकरी को भी लोग हलाल करके खाल उतार देते हैं तो मनुष्य जैसा समझदार प्राणी बकरी को मारकर खाएगा तो उसके हाल कितने बुरे होंगे! यह वाणी कटु तो लगती है परंतु नुकीली है, चोटदार है। संस्कृत के पंडितों द्वारा दिए हुए सुक्ति और सुभाषितों से तो कबीर की यह भाषा कई गुना असर पैदा करती है; यही वक्ता की सफलता है।

नानक साहब भी कुछ खास नहीं पढ़े थे। फिर भी उनकी वाणी को सुनकर सहज बोध घट जाता है।

नानक नाना हो रहिए, जैसै नानी दूब।

घास फूस उड़ जात है, दूब खूब की खूब।

मान पान और प्रतिष्ठा पाकर अहंकार से फूले न समाते हुए लोगों को नानक कितनी सहजता से जगा रहे हैं! गुजराती कवि अखा ने कहा -

एक मूरख ने एवी टेव, पत्थर एटला पूजे देव  
तुलसी देखी तोड़े पान, नदी देखी करे स्नान

तीरथ करता त्रेप्पन थ्या, जपमाळा ना नाका गया  
तीरथ करी करी थाक्या चरण, तोई ना आव्या हरि नए शरण

केवल शरीर शुद्धि और बाह्य भक्ति को ही महत्व देने वाले मूढ़ लोगों पर अखा भगत द्वारा करारा व्यंग्य हुआ है। ऐसी चोट से सोया हुआ मनुष्य जल्दी जाग सकता है।

कबीर, नानक, अखा जैसे अच्छे अच्छे संत कवि के उपरांत वक्ता भी थे और यह आदि काल से चला आ रहा है। ऐसे वक्ता के सानिध्य से मनुष्य बदल जाता है। ऐसे वक्ता की वाणी धार्मिक बंधनों के परे होती है। वह वाणी समग्र मनुष्यता को लक्ष्य में रखकर उतरती है। मैं उसे सनातन वाणी कहूंगी, उसे कोई भी देश कोई भी धर्म, कोई भी जाति या संप्रदाय गलत नहीं कह सकते। वह वाणी कभी पुरानी नहीं होती है। ऐसे पुरुषों के वचन प्रत्येक युग में मनुष्यता का मार्गदर्शन करते हैं। ऐसे वक्ताओं का ध्येय यश, कीर्ति, धन या भीड़ नहीं होता। परंतु उसके लिए केन्द्र में होती है आत्मजाग्रति, आत्मदर्शन, आत्मशांति, सत्यानुभव और मनुष्य का कल्याण।

ऐसे वक्ता के सामने भले एक श्रोता हो परंतु पूर्ण सजग और समर्पित होना चाहिए। ऐसा वक्ता कोई चाहने पर भी बन नहीं सकता, उसका तो पृथ्वी पर अवतरण होता है। ऐसे वक्ता कभी बिक नहीं सकते। भारत के अनेक उपनिषद् और शास्त्र एक वक्ता और एक श्रोता के सानिध्य में अस्तित्व में आए हैं। तंत्र शास्त्र का जन्म भी ऐसे ही हुआ है। रामायण और शिवपुराण भी सर्वप्रथम तो शिव पार्वती के बीच में ही सम्पन्न हुए थे। एक वक्ता और एक श्रोता के संवाद ने इस विश्व को जो दिया है ऐसा अमोघ वाणीप्रसाद आज तक भीड़ में कभी नहीं मिल पाया।

कुछ ब्रह्मनिष्ठ आत्माएं अपने शिष्य समुदाय अथवा ब्रह्मजिज्ञासु साधकों के लिए बोलते हैं। तब वक्ता और श्रोता दोनों धन्य हो जाते हैं। ऐसे महापुरुषों की वाणी अंतर की गहराईयों में से सत्य में अवगाहन करके निकलती है। तथा आपके अंतर को छू लेती है। ऐसे वाणी के स्पर्श के साथ ही आप बदलने लगते हैं। ऐसे वक्ता को सुनकर आपका मन शब्दसूत्र में ऐसे पिरोता जाता है कि कब वह शांत हो गया इसका पता नहीं चलता। और इन्हीं क्षणों में आपका श्रवण ध्यान की ऊंचाईयों को प्राप्त कर लेता है। आपका श्रवण जब ध्यान की भूमिका तक पहुँच जाए तब समझ लेना कि शब्द के बहते हुए भी निःशब्द के जगत में आपका प्रवेश हो गया। परंतु यह प्रवेश इतना सरल नहीं है। यह प्रवेश सबके लिए संभव नहीं है।

जब तक आप वक्ता के साथ गहन तल तक जुड़े हुए नहीं हैं, एक अर्थ में आप वक्ता के प्रेम में नहीं हैं तब तक आपको श्रवण समाधि नहीं लग सकती। जब श्रोता को वक्ता से आध्यात्मिक स्तर पर प्रेम हो जाता है तब शब्द, शास्त्र और उपदेश गौण हो जाता है और वक्ता के ज्ञान तरंग प्रमुख। जो तरंग प्रत्येक शब्द के साथ सूक्ष्म परमाणु के रूप में ऊठते हैं और श्रोता की चेतना को छू लेते हैं।

भागवत के प्रारंभ में शौनक मुनि वक्ता सुत जी से कुछ प्रश्न करते हैं। उन प्रश्नों का जवाब पूरा भागवत है। सुत जी शौनक की इस ज्ञान पिपासा और प्रश्नकुशलता को समझ लेते हैं। परंतु सत्संग का प्रारंभ करने से पहले कहते हैं कि

प्रीतिः शौनक चित्ते ते ह्यतो वच्मि विचार्य च।

सर्व सिद्धांत निष्पन्नं संसार भय नाशनं।।

हे मुनि! आपके हृदय में प्रेम है, प्रीति है इसलिए मैंने सोचा कि इस शास्त्र का ज्ञान आपको देना चाहिए। आपके प्रेम के वश होकर मैं बोलूंगा और सारे आध्यात्मिक सिद्धांतों का मूल स्रोत और संसार अर्थात् जन्म मृत्यु के भय से पार उतारने वाला यह शास्त्र मैं आपको सुनाऊंगा।

शिव ने प्रेम के वश होकर तंत्र, पुराण और अन्य सर्व प्रकार का ज्ञान दिया। प्रेम के वश होकर जगदंबा ने त्रिदेव को सत्य का बोध कराया। शबरी के प्रेम के वश होकर श्री राम ने उसे नवधा भक्ति सुनाई, अर्जुन के प्रेम और समर्पण के वश होकर कृष्ण ने गीता गाई। ऐसे तो अनेक उदाहरण हैं।

ज्ञान की एक खूबी है। ज्ञान सबके पार ले जाता है परंतु वह प्रेम के बिना प्राप्त नहीं होता। अगर आप ज्ञान को प्राप्त करना चाहते हैं तो पहले ज्ञानी को प्रेम करना होगा। क्योंकि ज्ञानी ज्ञान का मूल स्रोत है। जीव का जन्म तो अज्ञानवश होता है। परंतु जो जाग जाता है वह जन्म मृत्यु के पार जाने की विद्या प्राप्त करने में उत्सुक हो जाता है, और वह उसे पा लेता है। ज्ञान ऐसे मुमुक्षु के हृदय में ही प्रगट होता है। ज्ञान को



उपलब्ध हो जाने के बाद वह ज्ञानी बन जाता है। वह एक आंतरिक घटना है। फिर भी ज्ञानी का ज्ञान उसके प्रत्येक व्यवहार के द्वारा प्रगट होता है। उसके कार्य में ज्ञान की सुवास महकती है। ज्ञानी ज्ञान का जीवंत स्रोत है। ज्ञानी के चले जाने के बाद उसके वचन शास्त्र बन जाते हैं। परंतु साक्षात् ज्ञानी का सानिध्य जितना जीवंत है उतना शास्त्र का नहीं। दिव्य चेतना की उपस्थिति का असर कुछ अलग ही होता है।

मैं कहूँगी कि अगर आप ज्ञान में उत्सुक हैं तो टी.वी., पुस्तक और सी.डी. को दुसरे नंबर में रखना। आप अगर भाग्यवान हैं तो संभव है कि ज्ञान और ज्ञानी के प्रेम में पड़ जाओ। अगर ऐसा हो तो झुक जाओ ज्ञानी के कदमों में, समर्पित हो जाओ उसके वचनों को, बन जाओ सच्चे श्रोता, श्रवण को अपनी आत्मा का भोजन बना लो। ज्ञानी वक्ता को सुनने के लिए सबकुछ न्यौछावर कर दो। तत्त्वदर्शी और तत्त्वविवेचक वक्ता इस पृथ्वी पर बड़ी मुश्किल से प्राप्त होते हैं। ऐसे वक्ता के वचनों के श्रवण का एक भी मौका मत गंवाओ।

मेरे बचपन में मैंने मेरे पिताजी के पास से एक दृष्टांत सुना था। वह आज भी मुझे बराबर याद है – बुद्ध के एक शिष्य थे बोधीसत्त्व। जब उसे लगा कि भारत में बुद्ध को समझने वाले लोग बहुत कम हैं तब वे बुद्ध के विचारों को लेकर चले गए चीन में। कुछ समय तक चीन में धर्म प्रचार करने के बाद उसे महसूस हुआ कि आदमी पत्थर जैसा बन गया है। अध्यात्म के लिए उसके पास बहुत कम संवेदनाएं हैं। स्वार्थ और अहंकार से भरे मनुष्य के सामने बोलने से तो बेहतर है कि दीवार के सामने मुंह करके बैठ जाऊं। उसने निश्चय कर लिया कि जब तक श्रवण के लिए न्यौछावर हो जाने वाला श्रोता मेरे पास नहीं आएगा तब तक मैं नहीं बोलूंगा। और किसीको देखूंगा भी नहीं। दीवार के सामने मुंह करके बैठ रहा। बात फैल गई। एक समर्पित भक्त आ गया बोधिसत्त्व के पास। उसने विनती की, “प्रभु! मैं सबसे अलग हूँ कृपा करके मुझे उपदेश दीजिए। मैं आपकी वाणी का मूल्य समझता हूँ। मेरे सामने बोलना विफल नहीं जाएगा। बोधीसत्त्व ने कोई उत्तर नहीं दिया। भक्त ने कहा, आपको सुनने के लिए मैं मेरे प्राणों को भी न्यौछावर कर सकता हूँ। आप अगर इसके लिए प्रमाण चाहते हैं तो मैं आपको प्रमाण भी दे सकता हूँ परंतु आप बोलिए! आपका बोलना ही मेरा जीवन है।” परंतु बोधिसत्त्व की ओर से कोई जवाब नहीं मिला। तब भक्त ने अपना एक हाथ काटकर दीवार की ओर फेंका। दीवार पर अचानक रक्त के छींटे उड़ते देखकर अहिंसा के पुजारी और करुणामूर्ति बुद्ध के शिष्य बोधीसत्त्व गदगदित हो गए। उसका हृदय अपने श्रोता के लिए करुणा से भर गया। और भक्त दूसरा हाथ काटकर फेंके उसके पहले बोधीसत्त्व ने शीघ्र ही मुड़कर भक्त का हाथ पकड़ लिया।

प्यारे साधको!

ऐसे समर्पित श्रोताओं के सामने बोलने का आनंद किसी भाग्यवान वक्ता को ही मिलता है। श्रोता के तीन प्रकार हैं। उत्तम, मध्यम और अधम। एकबार महाराजा भोज के दरबार में एक आदमी सोने की पुतलियाँ बेचने के लिए आया। उसके पास तीन पुतलियाँ थीं। तीनों के रंगरूप, आकार, वजन समान थे। फिर भी उसकी कीमत में फर्क था। पुतली बेचने वाले ने राजा को कहा कि “महाराजा भोज! आप सरस्वती के उपासक हैं। एक ज्ञानी राजा हैं, आप मोल कीजिए इन पुतलियों का। तीनों पुतलियाँ सोने की होने पर भी उनमें से एक पुतली की कीमत दो कौड़ी की, एक की दो कौड़ी भी नहीं और एक की सवा लाख रुपए। बताइए की पुतलियों में क्या भेद है?”

महाराज भोज ने पंडित कालीदास को बुलाया। कालीदास ने बारीकी से पुतलियों को देखकर कुछ मूंग के दाने मंगवाए। एक पुतली के कान में दाना डालकर फूंक मारी तो दाना मुंह से निकल गया। कालीदास ने पुतली को फेंकते हुए कहा कि “इसकी कीमत दो कौड़ी की भी नहीं। ये पुतली ऐसे लोगों का प्रतीक है जो ज्ञान को पचा नहीं सकते। ज्ञान की बातों को सुन सुन कर केवल मुंह से बकते रहते हैं।

दूसरी पुतली के कान में दाना डाला और फूंक मारी तो दुसरे कान में से दाना बाहर निकला, पंडित ने कहा कि यह पुतली दो कौड़ी की। ये पुतली ऐसे मनुष्यों का प्रतीक है जो एक कान से ज्ञान की बातें सुनकर दूसरे कान से निकाल देते हैं परंतु कुछ भी हृदय में नहीं उतार सकते हैं।

तीसरी पुतली के कान में दाना डालकर फूंक मारी तो दाना सीधा पेट में उतर गया। कालीदास ने कहा इसका मूल्य सवालाख रुपय। यह पुतली ऐसे मनुष्यों का प्रतीक है जो संतों और गुरुओं से ज्ञान श्रवण करके सीधा उसे पचा लेते हैं।”

प्यारे साधको!

उत्तम श्रोता के कुछ खास गुण होते हैं। उत्तम श्रोता केवल श्रोता नहीं रहता, वह एक उच्च कोटि का साधक बन जाता है। आत्मनिष्ठ वक्ता को सुनते सुनते ध्यान को उपलब्ध हो जाना एक उत्तम प्रकार की फलित हुई श्रवण साधना है।

किसी पुरानी वाणी में बारह प्रकार के श्रोता बताए हैं। उनमें से छः प्रकार के उत्तम हैं और छः प्रकार के अधम।

अधम श्रोता के लक्षणों को बताते हुए कवि कहता है कि –

भैंसा मर्कट चर्चरि मक्खी चरनी घूर

यह षट् अधम जानिए पावे न ज्ञान विमूढ।

ऊपर बताए हुए पशु, जीव जंतु और वस्तु सब हीन प्रकृति के श्रोताओं के प्रतीक हैं। भैंसा का स्वभाव है, वह शुद्ध जल के होते हुए भी उसमें स्नान नहीं कर सकता। परंतु उसके समुदाय के साथ गंदे पानी से भरे हुए बड़े गढ़े में गिरता है और दूसरों को भी छींटे उड़ाता है। इस तरह से कुछ लोग गंदी बातों से अपने कानों को भरते हैं और दूसरों को भी दूषित करते हैं।

कुछ श्रोता मर्कट प्रकृति के होते हैं, वह संत या सद्गुरु के चरणों में स्थिरता से बैठ नहीं सकते हैं। उसकी उठा पटक और घूमना फिरना चालू ही रहता है। जिसका स्थूल शरीर भी स्थिर नहीं रह सकता, उसका चंचल मन कैसे स्थिर हो पाएगा सतसंग में!

कुछ लोग जोंक वृत्ति के होते हैं, कभी कभी जोंक गाय के थन में चिपक जाती है। गाय के थन अमृत जैसे दूध से भरे होने पर भी जोंक अपने स्वभाव के अनुसार गाय का खून चूसती है, वह दूध नहीं पी सकती। इस तरह से कुछ लोग वक्ता की अमृतवाणी का लाभ नहीं ले सकते परंतु ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति कष्ट रूप बन जाती है।

कुछ लोग मक्खी जैसे होते हैं, कितनी भी उत्तम कोटि की ज्ञान चर्चा चल रही हो परंतु उन लोगों की निरर्थक गुनगुनाहट चालू ही रहती है। वे लोग शब्द ब्रह्म में छिपि हुई शांति का अनुभव नहीं कर सकते हैं।

कुछ लोगों का स्वभाव चलनी जैसा होता है। जरूरत से ज्यादा बड़े छेद वाली चलनी निरर्थक होती है। उसमें कुछ भी डालो नीचे से निकल जाता है। कुछ लोगों का चित्त भी ऐसा होता है। उन्हें कुछ भी समझाना निरर्थक है।

कुछ लोग उल्लू जैसे होते हैं, उल्लू को अंधकार ही पसंद आता है, वो रात में ज्यादा दिखते हैं। वैसे ही कुछ लोग अज्ञान के अंधकार को ही पसंद करते हैं। उन्हें किरणें, ज्योति या ज्ञान पसंद नहीं आता। प्रकाश से छिपने में वे सुरक्षा महसूस करते हैं।

संत कविओं ने उत्तम प्रकार के श्रोताओं की भी बात की है—

मिट्टी चेरी बाछरू सूप चकोर मराल।

यह षट् उत्तम जानवा पावे ज्ञान बिशाल।।

कुछ श्रोता मिट्टी जैसे गुण वाले होते हैं, मिट्टी के प्रमुख दो गुण हैं, एक तो जल को संजोना और दूसरा बोए हुए बीज को विकसित करके वक्त आने पर असंख्य रूप में वापस देना। उत्तम श्रोता सद्गुरु की वाणी को हृदय में धारण किए रखता है, और उत्तम विचारों को फलित करके अनेक रूप में विश्व को वापस लौटाता है।

चेरी का अर्थ होता है दासी। कुछ श्रोता दास्य भाव से वक्ता के चरण में बैठते हैं। वहाँ उसका मन आग्रह और पूर्वग्रह से मुक्त होता है। संत वचन को ब्रह्म वाक्य मानकर वे तैर जाते हैं।

कुछ लोग बछड़े जैसे होते हैं, जैसे बछड़ा माँ के बिना नहीं रह सकता वैसे ही वे लोग ज्ञानी पुरुष की वाणी के बिना नहीं जी सकते। बछड़े को अगर कोई गाय से दूर बांधे रखे तो वह रंभाता रहता है, दुखी हो जाता है, माँ को मिलने के लिए उछलकूद करता रहता है और खूँटे को तोड़ भी देता है। वैसे ही ज्ञान का प्यासा श्रोता किसी भी प्रकार से दुनियाँ के बंधनों को तोड़कर ज्ञानी पुरुष के वचनों को सुनने के लिए उसके चरणों में पहुंच जाता है।

कुछ सज्जनों का स्वभाव छाज जैसा होता है, गुजराती में जिसे सुपड़ा कहते हैं, उनकी ग्रहण शक्ति अच्छी होती है। वक्ता की वाणी में से अपने कल्याण की बातों को कुशलता से छांट लेने की उनकी क्षमता होती है।

कोई कोई श्रोता चकोर पक्षी जैसे होते हैं, चकोर पक्षी जिस तरह से चंद्र की किरणों का पान करता रहता है वैसे ही वे लोग संत के वचनों से अपने हृदय को शीतल बना लेते हैं।

और कुछ गुणी जन हंस जैसे होते हैं, हंस के बारे में ऐसा कहा जाता है उसे दूध और पानी मिलाकर देते हैं तो भी उसकी चोंच के विशेष गुणधर्म की वजह से वह पेय में जैसे ही चोंच डुबोता है वैसे ही दूध और पानी बिलग बिलग हो जाता है। और वह दूध को ग्रहण कर लेता है और पानी को छोड़ देता है। वैसी ही गुणवान श्रोता वक्ता की वाणी में से गुण रूपी दूध को ग्रहण कर लेता है।

प्यारे साधको!

श्रवण ध्यान में वक्ता के प्रति प्रेमपूर्ण होना तो अनिवार्य है ही परंतु उसके उपरांत भी कुछ गुण जरूरी हैं। मैं यह सब इसलिए कह रही हूँ कि आपको पता चले कि आपकी श्रवण साधना किस ऊँचाई तक है।

प्रत्येक धर्म शास्त्र वक्ता के सन्मुख बैठने में ही सहमत हैं। आज तक किसी भी धर्म शास्त्र ने यह नहीं कहा कि वक्ता से विमुख बैठो। इसके भी कुछ सूक्ष्म कारण हैं। संत, सद्गुरु या ज्ञानी वक्ता की वाणी के द्वारा आपके ऊपर एक शक्तिपात होता है। उनकी वाणी केवल बोलना

नहीं होता है, उनके वचनों के साथ साथ श्रोता के प्रति प्रेम, कल्याण भाव, ऊर्जा आदि कई बातें बहती होती हैं। वक्ता से दूर बैठने वाला अथवा इधर उधर जाकर बैठने वाले के कान में शब्द की ध्वनियाँ तो पहुँच जाती हैं परंतु ये सब महत्वपूर्ण और सूक्ष्म बातों से ये अछूते रह जाते हैं। भारत का ऋषि स्पष्ट कहता है कि

यः स्थित्वाभिमुखं प्रणम्य विधिवत् .....

वक्ता के बिलकुल सामने बैठो, उसके अभिमुख बैठो ताकि आपपर सीधा ऊर्जा पात हो। उसके निकट बैठो ताकि आपको उसकी दिव्य तरंगों का लाभ मिले। उसके वक्ता स्वरूप का आप पूर्णरूप से दर्शन कर सको। उनके हावभावों से आपको मदद मिल जाए। मैंने मेरी पैंतीस वर्ष की आध्यात्मिक यात्रा के दौरान हजारों प्रवचन दिए हैं। वहाँ देखा है कि कुछ लोग बहुत दूर जाकर या अंत में बैठते हैं। वे पहले से धारणा बनाकर आए हुए होते हैं कि अगर मज्ञा नहीं आया तो छटक जाएंगे। उनके मन ने दो नकारात्मक धारणा पहले से बनाई हुई रखी होती हैं। ये 'जो' और 'तो' बड़े खतरनाक होते हैं।

प्यारे साधको !

ध्यान कभी शरती नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार के आनंद के लिए लोग मज्ञा शब्द का प्रयोग करते हैं। यह अलग बात है। परंतु मज्ञा शब्द ध्यान के सामने बहुत छोटा पड़ जाता है। मज्ञा एक लौकिक शब्द है। मज्ञा ज्यादातर मन और शरीर लेता है। वह क्षणिक होता है। परंतु आनंद आपके संपूर्ण अस्तित्व को पुलकित कर देता है। आनंद शाश्वत है। एक बार जिसने सच्चा आनंद पा लिया, वह आनंदरूप बन जाता है। क्योंकि सच्चे आनंद की झलक प्राप्त कर लेने के बाद उस झलक को कैसे प्राप्त करना उसकी कूँजी साधक के हाथ लग जाती है। और फिर वह जब चाहे तब अपनी मर्जी से आनंदित हो सकता है। उसे बाहर के दुख भीतर के स्तर तक दुखी नहीं कर सकते। भीतर से पूर्ण आनंदित व्यक्ति जरूरी नहीं है कि सबके साथ हंसता ही हो। वह अंतर्मुखी भी हो सकता है। बाहर से गंभीर दिखने वाला भी हो सकता है कि अपने भीतर अखंड आनंद का अनुभव कर रहा हो। ऐसे सिद्ध पुरुष अपने आत्मा से ही आत्मा को आनंदित कर लेते हैं। दुनियाँ के सुख दुखों में ही स्थिर रहते हैं। संयोग से जो कुछ भी प्राप्त होता है उससे संतुष्ट रहते हैं। जिसे कृष्ण गीता में स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

साधारण मनुष्य का आनंद कभी परिपक्व नहीं बन सकता। ऐसे अपरिपक्व आनंद को लोग मज्ञा कहते हैं। और वह ज़िंदगीभर मज्ञा के स्तर तक ही रहता है। आनंद की अखंड अवस्था और अकारण प्रसन्नता को मैं उसकी पूर्णावस्था या परिपक्वावस्था कहती हूँ। साधारण चित्त वाला मनुष्य ध्यान का भी क्षणिक आनंद उठा लेना चाहता है। इसमें भी कुछ गलत नहीं है, परंतु ऐसा ध्यान सही अर्थ में ध्यान नहीं बन सकता। ऐसा ध्यान क्षणिक कोशिश बनकर रह जाता है। वह न पूर्ण ध्यान बन सकता है न कभी समाधि तक पहुँच सकता है।

जिसका मन संत वचनों को सुनने के पहले ही संशय उठा लेता है, 'अगर मज्ञा नहीं आया तो' और दूसरी धारणा बना लेता है कि 'तो वापस लौट आएंगे' ऐसा मन वास्तव में श्रवण के लिए गया ही नहीं है। वे तो केवल रीपोर्टींग के लिए जाते हैं। जैसे बड़ी बड़ी सभाओं में रिपोर्टरों के लिए कुछ खास जगह रखी जाती है। उसका स्थान श्रोताओं में नहीं होता। ऐसे लोगों के लिए श्रवण ध्यान नहीं बन सकता, केवल समाचार बन सकता है।

प्रिय साधको !

जब कभी आप श्रवण करने के लिए जाओ तब क्षणजीवी मत बनना। एक औपचारिकता पूरी करने के लिए कभी मत जाना। औपचारिकता के लिए किसी सत्संग में जाने का अर्थ है कि आप स्वयं के साथ भी प्रमाणिक नहीं हैं। आपका जीवन ही औपचारिक बन गया है। आपने धर्म को भी एक कार्य बना दिया। ज्ञान को भी रोज-ब-रोज की क्रियाओं का एक हिस्सा बनाने की कोशिश की। जैसे टी.वी., पार्टी और क्लबों को टाईम दे देते हैं वैसे थोड़ा टाईम सत्संग को दे दिया। परंतु ऐसी औपचारिकता में आप नया जीवन प्राप्त नहीं कर सकते।

जिसके प्राण फूँक जाते हैं, वही नया जन्म प्राप्त कर सकता है। ज्ञान के लिए जब तक आप प्राण नहीं फूँक देंगे तब तक पुनर्जन्म को उपलब्ध नहीं हो पाओगे और आप पति, पत्नी, घर-बाहर की तरह सत्संग से भी बहुत जल्दी ऊब जाओगे। श्रवण और सत्संग कभी भागना नहीं सिखाता, वह तो आपको स्थिरत्व देता है। वह आपको रूपांतरित कर देता है। परंतु एक स्थान को पाने के लिए दूसरे स्थान से भागने वाला आदमी सत्संग के लिए भी भागता रहता है और सत्संग में से पुनः संसार में आने के लिए भी जल्दी भागता है।

प्रिय साधको !

श्रवण ध्यान में एक बात का खास ध्यान रखना। अगर आप वक्ता के दर्शन से प्रसन्न नहीं हो जाते। वक्ता को देखकर या आपके हृदय में संत दर्शन का भाव नहीं उठता है। वक्ता से मिलकर धन्यता का अनुभव नहीं करते हो और उसके साथ सूक्ष्म संवाद का आरंभ नहीं होता है

तो समझ लेना कि आपका उससे प्रेम नहीं हुआ। एक बात का खयाल रखना। प्रेमपात्र व्यक्ति कैसा भी हो परंतु जब आप किसी से प्रेम करने लगते हो, उस क्षण में आप विशिष्ट बन जाते हो। इस विशिष्टता का जन्मना यही आपकी उपलब्धि है। उस अवस्था में आपमें से हकारात्मक रसायण बहने लगते हैं। जो आपको विशेष शांत, प्रसन्न आनंदित, ग्रहणशील और स्थिर करने में मदद करने लगते हैं। वक्ता के साथ अगर आपका प्रेम का नाता नहीं जुड़ सकता तो परस्पर आध्यात्मिक ऊर्जा का आदान प्रदान नहीं के बराबर होता है।

मेरी बात को समझने की कोशिश करना। बौद्धिक स्तर से समझने की ये बातें नहीं हैं। बौद्धिक स्तर पर ऐसी घटनाएं घटती भी नहीं हैं। ऐसी घटनाएं तो मनुष्य के अंतर में घटती हैं। बुद्धि तो तर्कजाल और बौद्धिक ज्ञान की बातों से प्रभावित हो जाती है। और प्रभावित होकर कभी कभी बुद्धि समर्पित भी हो जाती है। परंतु यह परस्पर धोखा होता है। अंतर का समर्पण सच्चा समर्पण है। और ज्ञान के प्रेम में हमेशा हृदय और आत्मा पड़ता है। जब आप ज्ञानी वक्ता के प्रेम में नहीं हो तब आप केवल भीड़ का हिस्सा हो, इससे ज्यादा कुछ भी नहीं। प्रेमी श्रोता का एक विशेष स्थान होता है। वह एक सच्चा श्रोता होता है। वह अपने संत को, गुरु को सुनने के लिए कुछ भी कर सकता है। वह पूरी तरह से समर्पित होता है गुरुवाणी को। ऐसे श्रोता वक्ता के लिए प्राण भी न्यौछावर कर सकते हैं।

महाराजा परीक्षित जब शुकदेव जी के सामने ज्ञान श्रवण के लिए बैठ गए, तब उसका श्रवण साधारण श्रवण नहीं परंतु श्रवणध्यान बन गया था। न उन्हें अपने राज्य, पत्नी या परिवार का स्मरण था, ना ही तक्षक नाग का डर था। ना जीने की आकांक्षा थी न देवों के लाए हुए अमृत को पीने की इच्छा। इस घटना को पूरी दुनिया जानती है।

परीक्षित का स्मरण मैं इसलिए दिला रही हूँ कि वह जगत का एक अनूठा श्रोता और अत्यंत प्रचलित पात्र है। इस पात्र के द्वारा आप अपनेआप को अपने मन को समझ सकते हो। आपको पता चल सकता है कि आप किस हद तक श्रवणध्यान को समर्पित हो। परीक्षित को याद करके आप अपने मन को टटोल सकते हो।

प्यारे साधको!

श्रोता और वक्ता के पात्र भले बदलते रहें। परंतु भाव नहीं बदलना चाहिए। एक दूसरी बात भी याद रखना! केवल परीक्षित नहीं, परंतु इस पृथ्वी पर जन्मा हुआ प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु के लिए अभिशापित है। आप जब किसी न किसी शुकदेव को ढूंढ लेंगे तभी आप संसार के उस पार जा पाएंगे और मृत्यु से निर्भय हो पाएंगे।

प्रिय साधको!

ज्ञानी वक्ता की वाणी के श्रवण के लिए आपका प्रतीक्षारत होना भी अनिवार्य है। मैंने सुना है कि बुद्ध की देशना के पहले उनके श्रोताओं को अन्य तीन वक्ताओं की सभा में से गुजरना पड़ता था। उन शिष्यों को सुनना पड़ता था। एक के बाद एक तीन वक्ताओं को धैर्य से सुनते थे उनको ही बुद्ध के वचनों का लाभ मिलता था। कितना धैर्य होगा बुद्धप्रेमी श्रोताओं में? कितनी प्रतीक्षा की होगी उन लोगों ने बुद्ध तक पहुंचने के लिए! कितना प्रार्थनामय रहा होगा उनका हृदय! कितनी प्यास होगी उनके प्राणों में! ज्ञान के लिए वे कितने क्षुधित होंगे! कितने तड़पे होंगे वे बुद्ध को सुनने के लिए! और बुद्ध की सभा में प्रवेश पाकर उनका प्रेम और करुणापूर्ण वचन सुनकर वे कितने आनंद और शांति से भर गए होंगे! वे कितने ग्रहणशील होंगे! वे कितनी धन्यता का अनुभव करते होंगे!

ज़रा सोचो! अगर उन लोगों में ग्रहणशीलता नहीं होती, धैर्य नहीं होता, उनमें प्यास नहीं होती और उनका चित्त निराग्रही नहीं होता तो वे एक के बाद एक बुद्ध के तीन शिष्यों को कैसे सुन सकते?

प्यारे साधको!

याद रहे, श्रवणध्यान में श्रोता की कोई शर्त मान्य नहीं है। परंतु श्रवण के लिए कई सारी शर्तें हैं और वे सब श्रोता को पूरी करनी होती है। उस कसौटी में से जो श्रोता पार उतरता है वही सही श्रोता है। ऐसे श्रोता का श्रवण फिर श्रवण नहीं रहता, वह श्रवणध्यान बन जाता है। जिस श्रोता का चित्त ग्रहणशील होता है वही रूपांतरित हो सकता है। जो श्रोता ग्रहणशील नहीं है उसके सामने समझदार वक्ता को ज्यादा नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि अ-ग्रहणशील मानस वक्ता की शक्ति को शोषित करने वाला होता है। शोषण करने वाला कभी संतुष्ट नहीं हो सकता। और असंतुष्ट मानस के मनुष्य के लिए समझदार मनुष्य को ऊर्जा व्यय नहीं करना चाहिए।

ग्रहणशील श्रोता संतवचन से कभी प्रहार भी होता है तो अपने भीतर के आवरण को हटाने में उसका उपयोग कर सकता है। वह अपने ऊपर के लोखंडी माया कवच को पारसमणी जैसे संतवचन के स्पर्श से सत्य में रूपांतरित कर देता है। श्रवण ध्यान कथीर को सोना बना देता है। आप अगर श्रवण को ध्यान बनाना चाहते हैं तो वक्ता के निकट और सन्मुख बैठो। विनम्रता से बैठो। जैसे एक भाषा शब्दों से बनती है, वैसे



ही एक भाषा शरीर की मुद्राओं से, उठने-बैठने के ढंग से और हाव भाव से भी बनती है। जिसे अंग्रेजी में 'बॉडी लैंग्वेज' कहते हैं। यह शब्द अपने में एक विषद अर्थ का समावेश करता है। आपके बैठने के ढंग से आप अहंकारी हो या विनम्र इसका पता चल जाता है। आप भले अहंकारी हो, परंतु भीतर से कहीं विनम्र बनने का भाव उठे तो उसे रोकना नहीं। उस भाव का तुरंत अनुसरण करना। सजगता से बदल देना अपनी बॉडी लैंग्वेज को ताकि वक्ता को भी आपमें प्रवेश करने के लिए द्वार खुले।

स्वयं के भीतर का माहौल ऐसा तैयार करना कि वक्ता भी आपको प्रेम कर सके। ये सब श्रवणध्यान की विधि में आता है। सतसंग सुनते वक्त मन में या बाहर अन्य वाद विवाद का शिकार मत बनना। वक्ता की ओझ और सत्यपूर्ण वाणी में विलीन होने की अभिप्सा रखना। श्रवण में ध्यानस्थ होने की कुशलता प्राप्त करना सीख लो। हृदय में शिष्य भाव को प्रगट होने देना। विश्वसनीय बनना, चिंता को छोड़कर चिंतन जगत को विकसित होने देना और उचित आध्यात्मिक प्रश्नोत्तरी में रुचि रखना।

प्यारे साधको !

जब आप संतवचन को सुनने के लिए विनम्र, सजग, प्रार्थनामय, प्रेमपूर्ण, ग्रहणशील और प्रतीक्षारत होते हो तब वक्ता के वक्तव्य के प्रारंभ के साथ ही आपका पूरा तंत्र पहले आंदोलित, फिर धीरे धीरे शांत और अंत में तृप्त होने लगता है। आपकी श्रद्धा और समग्रता पूर्ण श्रवण से आपके द्वारा ही आपको मदद मिलने लगती है। संतवचन सत्योद्घाटन के लिए निमित्त बनते हैं।

सच्चे श्रोता के लिए सतसंग शिक्षा नहीं परंतु आनंद बन जाता है। सतसंग ही परमात्मा का साक्षात्कार बन जाता है। ऐसे श्रोताओं पर संत के वक्तव्य के दौरान सूक्ष्म रूप से आशीर्वाद बरसने लगते हैं और सहज शक्तिपात होने लगता है। इसके लिए संत को कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता है। हवा का रुख जिस तरफ होता है, उस तरफ चीजें खिंची जाती हैं, वैसे ही वक्ता के सन्मुख रहने वाले के प्रति बहुत सारी चीजें सहज ही चली आती हैं।

फिर एक अवस्था ऐसी आती है कि प्रश्न और संशय खो जाते हैं। एक अस्खलित बहता हुआ प्रेमपूर्ण शब्दब्रह्म का प्रवाह आपके हृदय को शांति से भर देता है।

जब ऐसा घटने लगता है तब शब्द, उसमें भरे हुए अर्थ, चिंतन, कटाक्ष, प्रहार, गूढार्थ, भावार्थ सब गौण बन जाता है। फिर तो सद्गुरु की ज्ञानवाणी भक्त श्रोता के लिए बन जाती है एक संगीत की तरह। वाजिंत्रो से निकलता हुआ संगीत क्या कह रहा है, उसका क्या पता ? संगीत का बौद्धिक अर्थघटन नहीं हो सकता। केवल अंतरचेतना से उसका अनुभव हो सकता है। वैसे ही कान रूपी यंत्र से गुरु द्वारा दी गई ज्ञानवाणी का प्रवाह जब भीतर आ रहा है। तब उस प्रवाह में साधक विलीन होता जाता है। यह विलीनता ध्यान के क्षण हैं।

उन वचनों के शब्दों और वाक्यों के बीच में एक अवकाश होता है। क्षणिक जगह होती है, एक गैप होता है। संगीत की तरह वाणी का भी एक आरोह अवरोह होता है। वाणी के इस आरोह और अवरोह के लिए और भावों की उचित अभिव्यक्ति के लिए दो वाक्यों और शब्दों के बीच में एक शांति होनी अनिवार्य है। यह निःशब्दता सहज ही होती है। वह निःशब्दता ही आपके भीतर के भावों को उत्पन्न होने की जगह देती है। आश्चर्य और प्रश्नों के भावों से भरे हुए शब्द, प्रेम और समाधानपूर्ण वाणी से भरे हुए शब्द, और छोटे बड़े वाक्यों के बाद तथा विशेष शब्द प्रयोगों के बाद वक्ता की वाणी में क्षणिक विराम आता है। यह सहज विराम है। कुदरती है। वह क्षण बहुत छोटा होता है। परंतु वाणी के सौंदर्य के लिए और शांति में प्रवेश के लिए बहुत महत्वपूर्ण है जिसे भाषा शास्त्र के अनुसार अल्पविराम, पूर्णविराम, प्रश्नार्थ, आश्चर्यचिह्न आदि कहते हैं। इन चिह्नों का लिखने से ज्यादा बोलने में असर आता है। ध्वनि के प्रवाह से इन चिह्नों को समझा जाता है। वे चिह्न बात को समझाते भी हैं और बात को समझने के लिए क्षणांश का समय भी देते हैं। वास्तव में वही विराम के क्षण हैं।

हमारे ध्यान मंदिर में बहुत सारे साधक आते हैं। ध्यान विधि में उतरने से पहले मैं थोड़ी देर प्रवचन करती हूँ। कुछ सहृदय श्रोता जो समग्रता से मुझे सुनते हैं वे बाद में मेरे पास आकर कहते हैं कि गुरुमैया ! हम तो खो गए थे। हमें पता ही नहीं था कि हम कहाँ हैं ? हमें लगता है कि हमारे इर्द गिर्द शांति के सिवाय कुछ भी नहीं रहता। हम तो आपकी वाणी में ही विलीन हो गए थे। ये क्या हो रहा था हमारे साथ ?

तब मैं उन्हें कहती हूँ कि मेरा प्रवचन आपके लिए केवल सुनना नहीं रहा था परंतु श्रवणध्यान बन गया था।

प्रिय साधको !

संत, सद्गुरु अथवा प्रबुद्धात्मा के वचनों को सुनते सुनते उनके शब्दों के मध्य के विराम पर विराम प्राप्त कर लो। शब्द का स्रोत अगर ज्ञानी के हृदय से बह रहा है तो वैसे शब्द आपको समाधि तक पहुंचा सकते हैं। कुछ खास व्यक्ति के शब्द आपको निःशब्द के विश्व में ले जा सकते हैं।

मैं कहती हूँ कि खोज लो ऐसी खास चेतनाओं को, ऐसी चेतनाओं के हृदय से निकला हुआ शब्द प्रवाह अस्खलित होता है। वे शब्द सत्य के जगत में से निकलकर सीधे ही आपके सत्त्यों को छू लेता है। ऐसे क्षणों में आप अवाक हो जाते हो। आपको लगता है कि मेरे मन की बातों को वक्ता ने कैसे पढ़ लिया ? परंतु वहाँ कोई सम्मोहन नहीं होता है। वहाँ तो वक्ता की परिशुद्ध चेतना आपकी चेतना को स्पर्श करके दूध और पानी को साफ साफ दिखा देती है। भले आप ऐसे वक्ता को पहली बार मिले हो और पहली बार सुन रहे हो फिर भी ऐसा हो सकता है।

ऐसी क्षणों में आप प्रसन्न, स्पष्ट और परितृप्त भी हो जाते हो। आपको अचानक लगता है कि आपकी खोज पूरी हो गई है। आपको महसूस होता है कि अब आप अंतिम पड़ाव पर पहुँच गए हो। मैं लक्ष्य के बिल्कुल सामने बैठा हूँ। अब मैं सत्य से निकट हूँ। फिर तो वाक् प्रवाह बहता रहता है और आप उन शब्दों की गतिमयता के साथ बहते हुए भी अ-गति में प्रवेश कर लेते हो। अर्थात् भीतर से सबकुछ ठहर जाता है। यह शांति और संतोष की अवस्था है। उसे ही परम विश्राम कहा है। पूर्ण विश्राम की क्षणों में आपकी मन पूर्णरूप से ठहर जाता है। मन के रुकने के साथ सारी चिंताएं और बाधाएं भी रुक जाती हैं।

जब आप श्रवण ध्यान में स्थिर हो जाते हो तब मन की भागदौड़ का बार बार शुरु होना संभव नहीं रहता। आप संत के वचनों के दो शब्दों के बीच में जो विराम है उसमें प्रवेश करते जाते हो। वहाँ फिर कोई बौद्धिक अर्थघटन की गुंजाइश नहीं रहती।

यह एक ऐसी अवस्था है कि जहाँ वाणी आपको विक्षेप भी नहीं करती और आपके मन को शिक्षित भी नहीं करती। क्योंकि विक्षिप्त अथवा शिक्षित हमेशा मन होता है। चेतना तो शुद्ध ही है। जब मन अदृश्य हो जाता है और शुद्ध चैतन्य प्रवाह बह रहा होता है तब कौन विक्षिप्त होगा और कौन शिक्षित होगा ? विक्षिप्तता का खो जाना ही आध्यात्मिक शिक्षा का पूर्ण होना है। जब तक विक्षिप्तता है तब तक शिक्षा की आवश्यकता है। फिर तो ज्ञान-वाणी आपके चित्त को स्थिर रहने का माहौल मात्र प्रदान करती है।

प्यारे साधको !

ऐसे माहौल को ढूँढ लो। सच्चे श्रोता बनने के लिए सजग हो जाओ। समर्पित हो जाओ श्रवण को। डूब जाओ श्रवणध्यान में और सहज ही संसार के उस पार चले जाओ।

## धारणा - ७९

### स्वजन मिलनभाव ध्यान

प्रिय साधको !

प्रेम एक ऐसी चीज़ है जो कभी खत्म नहीं होती, और जो खत्म हो गया वह प्रेम नहीं। प्रेम का स्वभाव है कि उसे जब व्यक्त होने का मौका मिलता है तब वह विभिन्न रूप में प्रगट हो लेता है। और जब मौका नहीं मिलता तब कछुए की तरह अपने अंगों को समेटकर अपनी ही ढाल में सुरक्षित रहता है। वह बरसों तक स्वयं में स्वयं को समेट सकता है। वह प्रतीक्षा करने से कभी थकता नहीं। प्रेम में की हुई प्रतीक्षा साधना बन जाती है। ऐसे प्रेम के संदर्भ में मुझे कुछ पंक्तियाँ स्फुरित हुई हैं।

इश्क है अंतर की ज्वाला, बर्फ जैसा सर्द है।

बंदा जल के तू पिघल जा, इश्क मीठा दर्द है।।

इश्क के बारे में हम, क्या बयां करें कैसे करें ?

राज की सब बात है जो कहें तो कैसे कहें।।

इस ज़मीं से आसमां तक इश्क का ही राज है।

इश्क में जो जी गया, सबका वो सरताज है।।

इश्क का सुख देख के, जन्नत बेचारा बन गया।

हो गए हम पाक इतने, जहन्नम का डर गया।।

जिंदगी में जरूरी नहीं है कि आप जिसे चाहते हो वह स्वजन हमेशा आपके निकट या आपके साथ ही रहे। प्रेम तो मिलन और विरह के दो किनारों के बीच में नदी के प्रवाह की तरह निरंतर बहता रहता है। नदी दोनों किनारों का स्वीकार करती है। दोनों के मध्य में ही नदी का नदीत्व है और सुरक्षा भी है। उन दोनों किनारों की वजह से ही नदी का निरंतर बहना संभव हो सकता है। किनारों के बिना तो नदी बिखर

जाएगी। नदी जैसे किनारों की शिकायत नहीं करती वैसे ही अपनों का प्रेम कभी सुख दुख की शिकायत नहीं करता।

मैंने जाना इश्क का इलाज बस इक इश्क है।

इश्क दर्दी इश्क रोग दुरस्ती सब कुछ इश्क है।

प्रेम अपनेआप में परिपूर्ण होता है। प्रेम हर पीड़ा का सहज स्वीकार भी कर लेता है और उसके पार भी ले जाता है।

कभी कभी दो किनारों में से एक किनारे पर नदी गहरी होती है। वैसे ही प्रेमनदी भी कभी मिलन तो कभी विरह के किनारों पर गहरी होती है। मैं कहती हूँ कि आपका प्रेम प्रवाह जब किसी भी गहराई पर बह रहा हो तब उसे ध्यान बना लो। ऐसा ध्यान आप कोई धर्म ग्रंथ में से नहीं सीख सकेंगे। क्योंकि यह अनुभव का ज्ञान है।

इश्क ना कुरआन में ना शास्त्र में पुराण में।

इश्क दिलदारों के दिल में आशिकों की जान में।

वैसे तो यह विधि शिव ने पार्वती को बताई है। परंतु विधि सार्थक तभी हो पाएगी जब आप उसका आंतरिक रूप से अनुभव करेंगे। शिव कहते हैं कि लंबे समय पर किसी स्वजन अथवा बांधव का मिलन हो और उसे देखते ही जब महाआनंद के प्राप्ति के क्षण उत्पन्न हों उस क्षण का ध्यान धरके उसमें अपने मन का लय कर लो।

प्यारे साधको!

इससे आगे कुछ और कहने के लिए शिव भी समर्थ नहीं हैं। ज्यादा से ज्यादा जितना हो सकता था शिव ने कह दिया।

इश्क के बारे में सब कहना नहीं मुमकिन है।

इश्क को जानो, करो, समझो अगर मुमकिन है।।

प्यारे साधको!

इस ध्यान विधि को भावपूर्ण हृदय से समझने की कोशिश करना कोई बौद्धिक आयास प्रयास नहीं करना इस विधि में, बाकी चूक जाएंगे।

मैंने पहले ही कहा कि प्रेम कभी समाप्त नहीं होता। उसे आपके या किसी और के चाहने पर भी खत्म नहीं किया जा सकता। ज्यादा से ज्यादा प्रेमी खुद को खत्म कर सकता है या कुछ क्रूर लोग प्रेमी को खत्म कर सकते हैं लेकिन प्रेम को नहीं।

इश्क का मंदिर और मस्जिद से ऊंचा मर्तबा।

हर धर्म से इश्क सच्चा है हमारा तजुर्बा।।

अगर आप एक सहृदय व्यक्ति हैं। अपने जीवन के दौरान आपने कभी किसी को वास्तव में अपना माना है, उसका स्वीकार किया है। वह भले मित्र, बंधु, स्वजन या कोई भी हो, परंतु सच्चा स्वीकार और सच्चा प्रेम कभी विस्मृत या अस्वीकृत नहीं बन सकता। सच्चे प्रेम को कभी आपकी चेतना भूल नहीं सकती। एक बार स्वीकार हो गया तो हो गया। उस स्वीकार में कोई गणित, कोई स्वार्थ, कोई तर्कबुद्धि नहीं होती। वह स्वीकार कोई बौद्धिक युक्ति नहीं होती। मैं कहूंगी कि बौद्धिक प्रयास से रिश्ते-नाते जोड़े जा सकते हैं, प्रेमबंधन नहीं। खैर, जब आपका स्वीकार विशुद्ध प्रेम पर ही खड़ा है तब वह कभी पुराना नहीं होता, न बासी होता है। वह दिल के एक कौने में हर हाल में तरो ताजा रहता है।

दुनियां में तीन प्रकार के लोग होते हैं। एक तो आपको लंबे अरसे पर मिलने पर प्रेम का दिखावा करते हैं। कुछ मिनट या घंटों के लिए प्रेम का नकाब चढ़ा लेते हैं परंतु नकाब तो नकाब होता है। नकाब चढ़ाने वाला ज्यादा समय तक नकाब नहीं ओढ़ सकता। क्योंकि वह अवास्तविकता है। अवास्तविकता घुटन पैदा करती है। वह घुटन बहुत जल्दी नकाब को चीर देती है। नकाब चढ़ाकर प्रेम का ढोंग करने वालों को शायद आप समझ पाओ या न समझ पाओ परंतु ऐसे लोगों के साथ आपके हृदय को सुकून नहीं मिलता है। वहाँ सब औपचारिक लगता है, सुपरफीशियल लगता है। धीरे धीरे आप भी एक शिष्टाचार के लिए औपचारिकता के प्रवाह में बह जाते हैं, थोड़ी देर हंस हंसकर बातें कर लेते हैं और क्षणों को संभाल लेते हैं।

दूसरे प्रकार के लोग लंबे समय के बाद मिलने पर ताना मारना शुरू कर देते हैं। ऐसे लोग या तो अबोध हैं अथवा कहीं ना कहीं स्वार्थ या द्वेष से पीड़ित हैं। उनके ताने प्रेम में से नहीं आते, परंतु उनकी लघुताग्रंथि, मनोद्वेष या अपराधभाव में से आते हैं। कुछ चालाक लोग ऐटेक होने के पहले शब्दों से काउंटरएटेक कर देते हैं। आप उसे पूछो कि भाई! फोन-बोन, खत, चिट्ठी कुछ नहीं! इससे पहले वे टूट पड़ते हैं आपके

ऊपर और आप संपर्क नहीं कर पाए हो इसलिए आपको दोषित साबित कर देते हैं। ऐसे लोग खतरनाक हैं। ऐसे धोखेबाज स्वजनों से सावधान रहना। ऐसे लोगों का कोई स्वजन नहीं होता। मतलब के सिवाय उनके लिए सब पराए हैं।

तीसरे प्रकार के लोग जब मिलते हैं तब हर्षाश्रु, हस्तधुनन, आलिंगन, मंद मंद हास्य और मौन अभिवादन करते हैं। उनके बीच नेत्रों से और तरंगों से बातें होती हैं। ये सब प्रेम की भाषा हैं। उनका मौन भी बहुत कुछ कह देता है। बिना बोले, बिना शिकायत किए, बिना हल्ला मचाए। ऐसे मिलन के समय का मौन सायास नहीं होता, वह सहज होते हैं। वह ध्यान की क्षण हैं। जहां कुछ पल के लिए भावनात्मकता की चरम सीमा में चित्त निर्विचार हो जाते हैं और मनुष्य अवाक्। वहाँ दो स्वजनों के मिलते ही जाति, पांति, उम्र का हिसाब किताब, पद और प्रतिष्ठा का भार, गरीब तवंगर के भेद और अहं का अंधकार पिघल जाता है।

हर गुमा हो चूर और भाए स्वजन तो इश्क है।

नीर बहते नयन से गाए भजन तो इश्क है।।

वह क्षण ही आनंद के क्षण हैं, वह क्षण ही दो चेतनाओं के भिन्न होते हुए भी एकत्व की अनुभूति के क्षण हैं। वह क्षण खुली आंख की समाधि है। वह क्षण ध्यान की चरम सीमा हैं। यह ध्यान किसी शास्त्रीय विधि की धारणा करके उसमें प्रवेश करने का आध्यात्मिक आयास प्रयास अथवा चित्त को रोकने के अभ्यास के बाद उतरा हुआ नहीं होता परंतु प्रातः में ओस की बूंद की शीतलता और सूरज की किरण की हलकी गरमी मिलने से जैसे कली अचानक फूल बन जाती है, ऐसा होता है।

ऐसे ध्यान में दो स्वजन के स्नेह की शीतलता और उष्मापूर्ण मिलन का परस्पर स्वागत मनुष्य चित्त को सहज ही ध्यानमग्न कर देता है।

प्यारे साधको!

ऐसे मिलन का आनंद अत्यंत पावन होता है। शिव की भाषा थोड़ी गूढ़ है। शिव की बताई हुई धारणा में से दो अर्थ निष्पन्न होते हैं। एक अर्थ यह है कि स्वजन का जब मिलन हो तब उस मिलन की क्षण में गहनता से उतरकर मिलन को ध्यान बना लो।

और दूसरा अर्थ यह है कि ऐसे क्षणों को अपनी स्मृति में संजोए रखो और जब भी वक्त मिले तब उन पावन क्षणों का स्मरण करके उन क्षणों में प्रवेश करके अति शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लो।

प्यारे साधको!

मनुष्य ने अपने मन को कचरे का गोडाउन बना कर रखा है। वह कचरा उसके भीतर और बाहर इतनी दुर्गंध फैलाता रहता है कि न वह आनंद से जीता है न दूसरों को जीने देता है। ध्यान शास्त्र कहता है कि आपकी स्मृति में संजोए रखने के लिए अन्य सुंदर चीजें भी हैं। सुंदर और आनंदित घटनाएं भी जिंदगी में घटती हैं। अपने चित्त में उन शुभ और प्रसन्नता देने वाली स्मृतिओं को संजोना सीखो, जो आपके लिए हितकर हैं और ऐसी स्मृतियों को बुद्ध सम्यक स्मृति कहते हैं। उन क्षणों का पुनर्स्मरण करके आनंदित हो लो। उन क्षणों को ध्यान बना लो। और परम आनंद में प्रवेश करके सब स्मृतियों से पार उतर जाओ।

इश्क को क्या जाति से क्या ज्ञान से क्या ध्यान से ?

इस्क तो खुद है समाधि पनपती जो प्राण से।।

## धारणा - ८०

### वात्सल्यभाव ध्यान

प्रिय साधको!

प्रेम के कितने रूप हैं! और हर स्वरूप अनूठा, अद्वितीय और अनुपम है।

कोई बच्चा और अम्मा किलकिलाए तो इश्क है।

या कोई नज़रें चुराकर मुस्कुराए तो इश्क है।।

इश्क ईश्वर का है चेहरा, इश्क अल्लाह की शकल।

इश्क में नाकाम है पंडित मुल्ला की अकल।।



इश्क से रिश्ता तुम्हारा, मान लो आदीम है।

इश्क को जो जान लो तो, खुदा भी खादीम है।।

आपने कभी सुंदर छोटे बच्चे को अतिशय वात्सल्य के साथ गोद में उठाया है ? अगर नहीं उठाया है तो अब उठाना। परंतु याद रहे इस ध्यान के केन्द्र में वात्सल्यपूर्ण भावदशा है। बच्चे को गोद में उठाने की क्रिया नहीं। भावपूर्ण विशुद्ध अवस्था में साधारण क्रिया भी साधना बन जाती है। और भावहीन साधना भी निरर्थक कृत्य अथवा बोझ बन जाती है।

बच्चे को पैदा कर लेना यह कोई बड़ी बात नहीं है। ये तो पशु-पक्षी भी कर लेते हैं। परंतु बच्चे पर पर्याप्त वात्सल्य बरसाना यह बहुत महत्वपूर्ण बात है। बच्चा पैदा हो जाने की प्रक्रिया से वात्सल्य का जन्म नहीं होता। वह तो चित्त की भावदशा में से जन्म लेता है। वह तो अंतर के आकाश में से बरसता है। वह कोई ऐसी चीज़ नहीं कि कोई जब चाहे तब बरसाने लगे।

हाँ! बच्चे की जन्मदात्री उसके रंगसूत्र और रसायनों से सीधी जुड़ी हुई होने के कारण उसका हृदय बच्चे के प्रति विशेष भावपूर्ण होता है। एक अर्थ में वह उसका ही अंश है। जिसकी वजह से रक्त का रिश्ता नारी को आजीवन वात्सल्यपूर्ण बनाने में मदद करता रहता है। इसके उपरांत भी नारी को कुदरत ने कुछ विशेष भाव प्रदान किए हैं। भाव जगत की कुछ विशेष क्षमताएं प्रदान की हैं। इसलिए वह पुरुष से ज्यादा प्रेमपूर्ण, वात्सल्यपूर्ण, स्नेहपूर्ण, सरल, ग्रहणशील और समर्पित हो सकती है। परंतु जरूरी नहीं है कि प्रत्येक नारी का हृदय वात्सल्य से भरा हो।

श्रीमद् भागवत में श्रीकृष्ण स्वयं बोले हैं कि,

**‘वही सच्चे मातापिता हैं जो बच्चे का पुत्रवत् पालन करते हैं।’**

इसका अर्थ यह हुआ कि केवल जन्म देने से या रोटी, कपड़ा देने से कोई संतान के सच्चे मातापिता नहीं बन सकते।

विज्ञान तथा कॉर्ट कचेरी की भाषा अलग होती है और भावजगत की भाषा अलग। विज्ञान और अदालत बायोलॉजीकल माँ-बाप को सही माँ-बाप घोषित करते हैं। जबकि भावजगत और समर्पणजगत सच्चा स्नेह और सुरक्षा प्रदान करने वाले को सही माता-पिता कहते हैं। इसी कारण से कर्ण कुन्ती पुत्र होते हुए भी कुन्ती के पास वापस नहीं लौटा था। सूर्यपुत्र कर्ण को जब जन्म के बाद जल में बहा दिया गया तब वह एक सुत के हाथ में आया। और सुतपत्नी राधा ने उसे प्रेम से पालपोस कर माँ का भरपूर प्यार देकर बड़ा किया और कर्ण उस पालक माता को आजीवन वफ़ादार रहा।

प्यारे साधको!

ये सारी बातें कहकर मैं आपको कोई संसार धर्म सिखाना नहीं चाहती हूँ। मैं आपको ध्यान की ओर ले जाना चाहती हूँ। जो ध्यान में उतर गया उसका संसार अपनेआप सुलझ जाएगा। मैं यहाँ सिर्फ बात करना चाहती हूँ वात्सल्यध्यान की। परंतु वात्सल्य प्रेम की ऊंचाई सब प्रकार के प्रेम से ऊपर है। वहाँ तक पहुँचने के लिए कुछ अन्य बातें करना भी मुझे जरूरी लगता है। अगर ये बातें नहीं करूंगी तो आप वात्सल्य ध्यान की जगह कुछ और कर लेंगे।

प्यारे साधको!

कुछ लोग कर्तव्य को प्रेम समझ लेते हैं, यह बहुत बड़ी गलती है। और औसत मनुष्य हजारों बरसों से यह गलती करता आ रहा है। सबसे पहले तो आप कर्तव्य और प्रेम के भेद को समझ लें। कर्तव्य का एक भार होता है। कभी कभी कर्तव्य निभाते निभाते मनुष्य थक जाता है। कर्तव्य भाव आपको जिम्मेदारियों को ढोने के लिए मजबूर करता रहता है। कर्तव्य समाज के द्वारा, राष्ट्र के द्वारा, परिवार के द्वारा, संप्रदाय के द्वारा, रिश्तों के द्वारा और नियमों के द्वारा थोपा हुआ होता है। जबकि प्रेम स्वेच्छिक, सहज, स्वाभाविक और कुदरती होता है।

प्रेम न कोई भार है ना कोई चिंता। प्रेम अधूरा या पूरा ऐसा नहीं होता है। प्रेम प्रेम होता है। प्रेम कोई पूरा पूरा भी नहीं कर सकता और कोई आधा अधूरा भी नहीं कर सकता। प्रेम के प्रत्येक क्षण स्वयं में पूर्ण होते हैं। इसलिए ही ईसू प्रेम को परमात्मा कहते हैं।

इश्क में गुजरे जो लम्हे, इतनी सच्ची जिन्दगी।

इश्क में जब खो गए, इतनी ही सच्ची बंदगी।।

इश्क में वल्लाह, ऐसा हो रहा ऐहसास है।

हर घड़ी, हर सांस मेरे साँब मेरे पास है।।

इश्क के आगे सुनो, जन्नता का रुतबा कुछ नहीं।

इश्क में जो खो गए तो, गिला शिकवा कुछ नहीं।।

कर्तव्य पूरा हो सकता है, प्रेम कभी पूरा नहीं हो सकता फिर भी अधूरा नहीं हो सकता। कर्तव्य को एक या दूसरे ढंग से भी आप पूरा कर सकते हो। जैसे कि जो अपना समय नहीं दे सकते हैं वैसे लोग धन देकर छूट जाते हैं। परंतु प्रेम में ऐसी कोई गुंजाईश नहीं है। प्रेम तो प्रेम से ही हो सकता है। आप प्रेम का विकल्प नहीं ढूंढ सकते हैं। आप व्यक्ति या वस्तु का विकल्प भले ढूंढ लो परंतु प्रेम का विकल्प सिर्फ प्रेम ही है।

आजकल के लोग कर्तव्य की भाषा को महत्व देने लगे हैं। प्रेम की बोली भूलते जा रहे हैं। खास करके कुछ लोग बच्चों के प्रति जो उनका कर्तव्य है उसे पूरा करने के लिए और वे एक सफल माता-पिता हैं ऐसा सिद्ध करने के लिए कर्तव्यनिष्ठा पर ज्यादा जोर देते हैं।

परंतु आप संतान पर वात्सल्य बरसाने में, उसकी कमजोरियाँ स्वीकार करने में, उसकी गलतियाँ माफ करने में, उनसे बिगड़ी हुई बातों को सुलझान में, उनकी अपरिपक्व निर्णयों को सहष्णु बनकर उन्हें परिपक्वता तक पहुँचाने में, उनकी जरूरतों के साथ उनके भावजगत को समझने में, उनकी स्वतंत्रता का स्वीकार करने में, उनके अनुचित रवैये बदलने में, उन्हें सर्वांगी शिक्षा देने में, उनको जीवन के लिए स्पष्ट दृष्टि देने में, उनके साथ मैत्री स्थापित करने में और उसपर अपनी इच्छाएं और आग्रह न थोपने में आप किस हद तक सफल गए हैं यह सोचना बहुत जरूरी है।

कॉलेज की शिक्षा से जीवन की शिक्षा ज्यादा महत्वपूर्ण है। तगड़ी फीस, करप्शन और डोनेशन देकर अपने बच्चे को एक डॉक्टर या इंजीनियर बनाने से ज्यादा महत्वपूर्ण है एक सच्चा इंसान बनाना। और यह इंसानियत वात्सल्य में से जन्म लेती है। प्रेम शैतान को भगवान बना सकता है।

कुछ लोग बच्चे के लिए कर्तव्य निभा देते हैं। परंतु वात्सल्य के अभाव में बच्चे के लिए सबकुछ करने पर भी बच्चे को अच्छा इंसान नहीं बना पाते।

आपका बच्चा जीवन लक्ष्मी शिक्षा का तभी स्वीकार करेगा जब आप उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का संपूर्णता से स्वीकार करेंगे और वह केवल प्रेम और वात्सल्यपूर्ण हृदय से ही संभव हो सकता है।

अगर आप बच्चे के प्रति अपार वात्सल्यपूर्ण हैं तो वो वात्सल्य भाव आपके हृदय को संतोष और प्रसन्नता से भर देगा। वहाँ आप कभी ऐसा महसूस नहीं करेंगे कि बच्चे को खुश रखकर आप उसपर एहसान कर रहे हैं।

संतोष और प्रसन्नता के क्षण आपके लिए ध्यान के क्षण बन सकते हैं। ध्यान है आत्मतृप्ति। ध्यान है आत्मसंतोष के विश्व में प्रवेश। ध्यान है आनंद के जगत में वास। ध्यान है परम विश्रान्ति का क्षेत्र।

मैं तो आज के 'यूथ' को जब भी मौका मिलता है तब कहती हूँ कि अगर आपका वात्सल्य जगत कमजोर है तो एक जीव को इस अणु-युग में पृथ्वी पर लाने की गलती कभी मत करना। आप शिशु के स्वागत के लिए हर तरह से तैयार और सक्षम नहीं हैं तो बच्चे को जन्म देना एक पाप बन जाएगा। एक दूसरी बात भी याद रखें, पति अथवा पत्नी में से एक भी यदि वात्सल्य भाव से रिक्त हो अथवा संतान नहीं चाहता हो परंतु एक दूसरे की खुशी के लिए अगर बच्चे को जन्म दे देंगे तो वह मातृ-पितृत्व अधूरा रहेगा। भावजगत की दृष्टि से कहूँ तो ऐसा बच्चा आपकी नाजायज औलाद कहलाएगा। क्योंकि आत्मा ने नहीं चाहा था उसे परंतु परिस्थितियों ने जन्म दिया।

मैं कहती हूँ कि अपने बाप दादाओं के नाम का खाता खुला रखने के लिए अथवा आपके द्वारा इकट्ठी की हुई संपत्ति का रखवाला पैदा करने के लिए अथवा आप माँ-बाप बनने के लिए सक्षम हैं उसका सबूत दुनियाँ के सामने पेश करने के लिए अथवा विषय वासना में चूर मनोदशा में अंजाने में गर्भ रह जाना और अनिच्छा से भी बच्चे को जन्म दे देना यह महापाप है। ऐसे बच्चे और ऐसे माँ-बाप परस्पर खुश नहीं रह सकते।

क्योंकि ऐसे बच्चे भी एक प्रकार के गणित से हिसाब किताब से सामाजिक प्रदर्शन के लिए स्पर्धाभाव से अथवा मजबूरी से पैदा हुए हैं। और ऐसी स्थिति में माता पिता बच्चे के साथ बायोलोजिकली या पारिवारिक रूप से भले जुड़े हों परंतु भावजगत से या वात्सल्य जगत से पूरे पूरे जुड़े नहीं होते हैं। ऐसी स्थिति में आपका सारा कर्तव्य निभाने के बाद भी आपका मन परस्पर शिकायत और असंतोष से भरा रहेगा। क्योंकि मूल में प्रेम नहीं है, झूठ है।

प्रारंभ में ही कहीं धोखा किया है आपके मन ने खुद से और बच्चे के साथ। जिसका आपके दिल को पता है और अस्तित्व को। अस्तित्व में कभी भी कुछ भी नष्ट नहीं होता। फिर वह स्थूल हो या सूक्ष्म। समय आने पर अस्तित्व किसी भी रूप से जवाब मांगता है। इसे कोई कर्म कहता है, कोई ग्रहदशा, कोई भाग्य तो कोई दुर्भाग्य। परंतु मूल में यह आपकी अस्पष्टता का ही परिणाम है। केवल विशुद्ध स्नेह के आदान

प्रदान के लिए बच्चे को जन्म देना और उसका लालन पालन करना ये एक उच्च प्रकार की साधना बन जाता है। ऐसी साधना जाग्रत दंपति के लिए एक प्रकार की लीला है, फिर भी साधना है। ऐसी साधना संसारी के रूप में होते हुए भी समाज को ऋषिकक्षा के संतान देते हैं।

प्यारे साधको !

बच्चा आपका हो या किसी अन्य का परंतु आप जब जब किसी भी प्रकार के बौद्धिक हस्तक्षेप के बिना सहज ही झुककर बच्चे को अपनी गोद में उठा लेते हो तब समझ लेना कि वह प्रक्रिया आपके वात्सल्यभाव के उद्रेक का परिणाम है।

ऐसे भाव के उत्पन्न होने के क्षण आपका अहंकार अचानक अदृश्य हो जाता है और आप अचानक झुक जाते हो बच्चे को अपनी गोदी में उठाने के लिए। मैंने देखा है कि मनुष्य ज्यादातर तीन स्थान पर ही स्वेच्छा से झुकता है। एक तो अपनी आस्था के अनुसार के धर्म स्थान में, दूसरा संत या सद्गुरु के चरणों में और तीसरा सुंदर बच्चे की बाल लीला के प्रभाव से आकर्षित होकर उसे अपनी गोद में उठाने के लिए।

वात्सल्यभाव के उद्रेक के कारण उस भाव से विवश होकर छोटे बच्चे को झुककर गोद में उठाते वक्त बड़े से बड़ा आदमी भी बड़प्पन को क्षणभर के लिए भूल जाता है। क्यों ? क्योंकि उसके मन में पड़े हुए वात्सल्य भाव को प्रगट करने में एक सुंदर बच्चा माध्यम बन जाता है। तब वह माध्यम के सामने झुककर उसके साथ क्षणिक खेलकर आनंदित हो लेता है। ऐसे क्षणों में वह अपनेआप को रोक नहीं सकता। उसका प्रेम सब मर्यादाओं को लांघकर बच्चे की ओर बहने लगता है। क्षणभर के लिए मन अपना आपा भूल जाता है। बुद्धि क्षणभर के लिए सोचना बंद कर देती है और आदमी छोटे से बच्चे की ओर झुककर उसे उठा लेता है अपनी गोदी में। बड़े से बड़े साधु महात्मा जितना शीघ्र चमत्कार नहीं कर सकते हैं, ऐसा चमत्कार एक छोटा सा बच्चा कर देता है। इसीलिए तो लोग कहते हैं कि 'बच्चे में भगवान होते हैं'।

इतना ही नहीं परंतु बच्चे को राजाओं का राजा कहा गया है। क्योंकि वह अपनी मर्जी का मालिक है। उसको अपनी गोदी में उठाने वाला कोई धनकुबेर क्यों न हो ! परंतु अगर उसकी मर्जी नहीं होगी उस धनकुबेर की गोदी में खेलने की तो वह नहीं जाता है उसके पास, रोकर चिल्लाकर छटपटाकर भी वह दूर चला जाता है। और कभी कभी साधारण नौकर की गोदी में धनकुबेरों का सुंदर बच्चा घंटों तक खेलता रहता है और अपने माँ-बाप के पास जाना नहीं चाहता।

आप औपचारिकता के लिए भी लोगों के साथ समाधान कर लेते हैं, असत्य में जी लेते हैं; थोड़ी देर हंस लेते हैं। बच्चा कोई औपचारिकता नहीं जानता, वह नितांत सत्य में जीता है, इसलिए उसे भगवान कहा है।

बच्चे का मानसिक स्तर और बौद्धिक स्तर ज्यादा विकसित नहीं होता, क्योंकि मन और बुद्धि तो संसार के खट्टे मीठे अनुभवों से विकसित होती है। परंतु बालक का हार्दिक स्तर अत्यंत समृद्ध होता है। बड़े लोग सबकुछ बुद्धि से समझते हैं परंतु बच्चे प्रत्येक व्यक्ति और वातावरण को हृदय से जान लेता है। बच्चे की निर्दोष और आवरणमुक्त चेतना शायद सामने वाले की चेतना को, उसके असल स्वरूप को जान लेती है। आपमें से निकलती हुई तरंगों को बच्चे की चेतना विशेष गहनता से छू सकती है। क्योंकि उसके पास कोई पर्दा नहीं है। आपमें से निकलते हुए परमाणुओं का तालमेल अगर उसकी चेतना के साथ नहीं मिल रहा है तो वह तुरंत आपसे मुंह मोड़ लेता है।

वही मनुष्य बच्चे के साथ ज्यादा समय तक रह सकता है जो सत्य के करीब हो, निर्दोष हो, अहंमुक्त हो, जिसका भावजगत समृद्ध हो, हृदय निर्मल हो और वात्सल्य से भरा हो।

प्रिय साधको !

जिसका हृदय वात्सल्यपूर्ण है ऐसे साधकों के लिए वात्सल्यभाव एक ध्यान की ऊँचाई प्राप्त कर सकता है। आपने सुना होगा, पढ़ा होगा नंद और यशोदा तथा दशरथ और कौशल्या कृष्ण और राम को गोदी में खिलाते समय उन्हें भोजन कराते समय, पलने में झुलाते समय और लाड़-प्रेम करते वक्त ब्रह्मानंद में खो जाते थे। इसका अर्थ क्या है ?

अर्थ सीधा, सपाट और स्पष्ट है। उन लोगों के पास इतना वात्सल्यपूर्ण हृदय था कि वे केवल शिशु के साथ भावमग्न बनकर ही ध्यान को उपलब्ध हो सकते थे। वे लोग स्वयं को अस्तित्वगत रूप से पूरे पूरे पहचान गए थे। इसलिए तो उन्होंने भगवान को पुत्र के रूप में पाने का वरदान चाहा। और भगवान को पुत्ररूप में प्राप्त करके अपने वात्सल्य प्रेम को अमर बना दिया। ऐसे प्रेम के बारे में मैंने कहा है -

कभी तीर्थंकर पर्यंवर बनके आता इश्क है।

तो कभी अवतार बनके मन लुभाता इश्क है।।

इश्क का ये इल्म सीख ले औलियों से आदमी।

इश्क की बानी अलग सब बोलियों से आदमी।।

इश्क मेरा है वली, और इश्क विरासत मेरी।

इश्क लिखूं वसीयत में, इश्क ही बरकत मेरी।।

उन्होंने जान लिया था कि उनका वात्सल्य मुक्ति का मार्ग बन सकता है। उनका वात्सल्य केवल साधारण संतान को नहीं परंतु परमात्मा को भी रिझा सकता है। शास्त्र इसे वात्सल्य भक्ति के नाम से जानते हैं।

प्यारे साधको !

पुराण कथाओं की सभी घटनाओं को अतिशयोक्तिपूर्ण मान लेने का कोई कारण नहीं। आज के मनुष्य को पुराण की सारी बातें इसलिए अतिशयोक्तिपूर्ण लगती हैं कि उसका भावपक्ष निर्बल हो गया है। मैं तो कहूंगी कि अगर आपके पास अपने शिशु के लिए भावपूर्ण हृदय है और आपका व्यक्तित्व पूर्ण वात्सल्यमय है तो आप नंद-यशोदा अथवा दशरथ-कौशल्या से बिलकुल कम नहीं हैं। बच्चे के साथ वात्सल्यमूर्ति बनकर जो खो जाता है वह दुनियाँ का सबसे बड़ा धनी है। वात्सल्य भी प्रेम का एक अनिर्वचनीय स्वरूप है। उसका वर्णन नहीं हो सकता। अगर आपके पास दृष्टि है तो कभी कभी चुपचाप दर्शन हो सकता है और अनुभव हो सकता है।

अल्फाज़ अम्मा याइलाही, मैं मचलता इश्क है।

इश्क को जाने नहीं, उसको ही खलता इश्क है।।

मासूम की मुस्कान इश्क, सारे जहां की जान इश्क।

धरम और ईमान इश्क, आशिकों की शान इश्क।।

प्यारे साधको !

बचपन में जब मैं राम और कृष्ण के बालचरित्र को बढ़ती थी तब मेरा शरीर रोमांचित हो जाता था। कॉलेज में सूर और तुलसी के द्वारा वर्णित राम और कृष्ण की बाललीला और कौशल्या तथा यशोदा का वात्सल्य प्रेम पढ़कर क्षणभर के लिए मैं भावसमाधि में चली जाती थी। फिर मैं घंटों तक चिंतन करती थी कि ये सब क्या हो रहा है ? कैसे हो रहा है ? क्योंकि क्लासरूम में और किसीको ऐसा होता नहीं था। फिर यह मेरे लिए अभ्यास का विषय बन गया। फिर ध्यान की गहराइयों में उतरते उतरते मैंने धीरे धीरे मनुष्य को भाव-समाधि में और निर्विचार अवस्था में ले जाने वाली अनेक घटनाओं का जाग्रतिपूर्ण अनुभव किया। फिर तो यह विषय मेरे लिए ध्यानविज्ञान बन गया। वह एक खोज का विषय बन गया। और गहन अनुभूतियों के बाद ऐसा प्रतीत हुआ कि कुछ खास घटनाएं ध्यान का माध्यम बन सकती हैं। और बादमें मैंने इन बातों का, घटनाओं का, क्षणों का और अनुभवों का 'धारणा' के रूप में मेरे ध्यान शास्त्र में समावेश कर लिया।

प्यारे साधको !

कोई बच्चा और उसकी माता स्थल-काल का भान भूलकर किलकिलाट हंस रहे हों, हंसते हंसते दोनों खिल रहे हों तब उसे भाव से देखना। अथवा तो अगर आपके पास वात्सल्यपूर्ण हृदय है तो मौका मिलते ही किसी सुंदर शिशु की हंसी में खो जाना। ऐसी क्षणों में आप दुनियाँ के लिए पूर्ण बेहोश होते हो। आखिर ध्यान है क्या ? मेरी अनुभवों के अनुसार कहूं तो दुनियाँ के प्रति, संसार के प्रति संपूर्ण बेहोशी और अंतरमन में एक सजग आनंद का नाम ही तो है, ध्यान।

ऐसे ध्यान के क्षण आप बच्चे के साथ खेलकर, बच्चे को गोदी में उठाकर और बच्चे के साथ हंस हंसकर प्राप्त कर सकते हैं। उसमें कुछ विशेष करने की जरूरत नहीं है। किसी शास्त्र से मदद मत ढूंढना, यह ध्यान करने में किसी उदास साधु संत की सलाह लेने मत जाना। बुद्धि को ज्यादा चंचुपात मत करने देना। किसी सुंदर बच्चे को देखते ही अगर बच्चा सहजता से आपका सानिध्य चाहता है तो उसे गोदी में उठाकर क्षणभर के लिए दुनियाँ को भूल जाना। ऐसे क्षण में थोड़ी भी देर कर देंगे तो माहौल बदल जाएगा। और आप चूक जाएंगे।

गरीब से गरीब व्यक्ति भी छोटे से शिशु के संग में हंसने-खेलने की क्षणों में दुनियाँ का सबसे बड़ा सुखी और प्रसन्न व्यक्ति दिखाई देता है। यहाँ फिर नर या नारी का भेद नहीं है। अपने मन से कोई भी अर्थघटन मत कर लेना। ऐसा मत समझना कि बच्चों को खिलाना यह तो नारी का काम है। अगर ऐसे विचार आए तो समझना कि आपका मन अहंकार से भरा है। नर-नारी तो शरीर मात्र का भेद है। यहाँ तो विशुद्ध भावजगत की बात चल रही है।

प्यारे साधको !

अगर आपका हृदय भावपूर्ण है तो सरल बनने का एक भी मौका नहीं गंवाना। एक दूसरी बात भी याद रहे, बच्चा तो बच्चा होता है।



गरीब का हो या तवंगर का। कुछ चालाक लोग कभी कभी अपना स्वार्थ साधने के लिए बड़े लोगों के अप्रसन्न बच्चे को भी पुचकारते हैं, उसको गोद में लेने की कोशिश करते हैं, उसे खुश करना चाहते हैं। ऐसे लोग कभी भी वात्सल्य ध्यान में प्रवेश नहीं कर सकते। ध्यानमार्ग मन की चालाकियों से कोसों दूर है। ध्यान तो परमात्मा का साक्षात्कार है। परमात्मा को आज तक कभी भी कोई भी व्यक्ति चालाकी से नहीं प्राप्त कर सका।

मैं कहती हूँ कि कहीं भी प्रसन्न बच्चा मिल जाए जो किलकिलाट हंसता हो और आपके पास आने के लिए तैयार हो; तो उसे ध्यान का मौका समझना। बच्चे की हंसी कुछ ऐसा चमत्कार होता है कि उसे देखकर आप अपने सारे दुःखों को भूल जाते हैं। सुख और दुःख का स्मरण मन के द्वारा होता रहता है। परंतु बच्चे का हास्य आपको इतनी प्रसन्नता प्रदान करता है कि क्षणभर के लिए आप अ-मनी अवस्था में पहुँच जाते हो। और जब बच्चे को गोद में उठाकर वात्सल्य बरसाने लगते हो तब वास्तव में आप बच्चे को कुछ देते हुए भी नहीं दे रहे हो। हकीकत में प्रसन्न बच्चे की उपस्थिति और सानिध्य बहुत जल्दी आपके रसायनों को बदल देता है। आपको बच्चे से मदद मिल रही है। और आपमें से प्रेम बरसाने लगता है। तब आप बच्चे पर प्रेम बरसाते हुए भी एक अर्थ में खुदपर ही प्रसन्नता बरसा रहे हो। आनंदित हो रहे हो। वह आनंद ही परमात्मा है। उस क्षण में ही परमात्मा का वास है। उसमें स्थिर होकर मन के पार पहुँच जाओ।